CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

वर्ग संख्या 2 / र०४८ प्राप्ति-संख्या 221

ग्रन्थ-कार्ड
श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान
ग्रन्थागार
नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
लेखक अमृतचन्द्रसूरि

लेनेवाले का नाम	देनेकी तिथि	लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि
K. C. Jain	12/7/09	[illegible]	२५-८-०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

सं. ४८

श्री मदमृतचन्द्राचार्य विरचित

श्री पुरुषार्थ सिद्धोपाय

(हिन्दी पद्यानुवाद सहित)

रचयिता
श्री सागरचन्द बड़जात्या
दाना ओली लश्कर

... वर्णी दि. जैन (शोध) ...
पुस्तक सं० 221
दिनांक ....

प्रकाशक
ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई
दिगम्बर जैन मन्दिर धूलिया गंज, आगरा।

वीर निर्वाण सं० २४८४

प्रथमावृत्ति ३०००	मुद्रकः जिनेन्द्र कुमार जैन जनता प्रेस, आगरा।	मूल्य ॥=)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे प्रकाशन

१.	भेदज्ञान	....	२)
२.	पंचलब्धि	....	१।।।)
३.	तत्त्वार्थसूत्र सटीक	....	१।)
४.	जिन सिद्धान्त	....	१)
५.	गुणस्थान	....	१)
६.	श्री भक्तामर	....	१)
७.	दृष्टि दोष	....	।।-)
८.	तत्त्वसार	....	।=)
९.	जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	....	।-)
१०.	निमित्त	....	=)
११.	पंचभाव	....	=)
१२.	गुरु का स्वरूप	....	=)
१३.	देव का स्वरूप	....	-)
१४.	शास्त्र का स्वरूप	....	-)
१५.	योगसार पद्यानुवाद	....	-)
१६.	आत्मस्मरण	....	।)
१७.	तत्त्वसार (अँग्रेजी में)	....	।।।)

छप रही हैं !

(१) पंचास्तिकायः (२) रत्नत्रय (३) देव भक्ति

अँग्रेजी में अनुवाद :

(१) दृष्टि दोष (२) पंचलब्धि

मिलने का पता :—

दिगम्बर जैन मन्दिर,
धूलियागंज,
आगरा

जैन दर्शन विद्यालय,
चाकसू का चौक,
जयपुर (राजस्थान)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो शब्द

पुरुषार्थ सिद्धोपाय नाम के ग्रंथ से जैन समाज का बाल-गोपाल परिचित है। इस ग्रंथ की रचना आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरी ने की है; आचार्य अमृतचंद्र सूरी की कथन शैली अकाट्य है एक एक बात को न्याय से, युक्ति से इस प्रकार सिद्ध किया है कि जीव पढ़कर अपने कल्याण के पथ पर आ जावे।

इस ग्रंथ का पद्यानुवाद तथा भाषा में संक्षेप अनुवाद श्री सागर-चन्द जी बड़जात्या लश्कर निवासी ने किया है जो प्रशंसा के पात्र हैं। इस ग्रंथ से सर्व साधारण जीव अपने आत्म कल्याण का लाभ उठा सकता है इस भावना से प्रेरित होकर यह ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है कोई ख्याति लाभ पूजा की अभिलाषा नहीं है। ज्ञान का प्रचार कैसे हो यह अभिप्राय छोड़कर और कोई अभिप्राय नहीं है। मैं आशा करता हूँ इस ग्रंथ से अनेक जीवों को आत्मिक लाभ होगा।

ब्र० मूलशंकर देसाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

क्र० सं०	विषय			पृष्ठ
१	निश्चय तथा व्यवहार का लक्षण	....	....	४
२	जीव का स्वरूप	....	....	६
३	पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय	....	....	६
४	उपदेश देने का क्रम	....	....	८
५	सम्यक दर्शन का स्वरूप	....	....	९
६	सम्यक के अष्ट अङ्गों का वर्णन	....	....	१०
७	सम्यक ज्ञान का स्वरूप	....	....	१२
८	सम्यक चारित्र का स्वरूप	....	....	१४
९	पंचपाप का स्वरूप	....	....	१५
१०	अहिंसा का स्वरूप	....	....	१६
११	श्रावक के अष्टमूल गुण	....	....	२२
१२	असत्य का स्वरूप	....	....	३१
१३	चोरी का स्वरूप	....	....	३४
१४	अब्रह्म स्वरूप	....	....	३६
१५	परिग्रह का स्वरूप	....	....	३७
१६	रात्रि भोजन के दोष	....	....	४३
१७	दिग्व्रत स्वरूप	....	....	४६
१८	देशव्रत स्वरूप	....	....	४७
१९	अनर्थ दण्डव्रत स्वरूप	....	....	४८
२०	द्यूत दोष वर्णन	....	...	५०
२१	सामायिक स्वरूप	...	....	५०
२२	उपवास का स्वरूप	....	....	५१
२३	भोगोपभोग स्वरूप	....	....	५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र० सं०	विषय			पृष्ठ
२४—	अतिथि संविभाग व्रत	....	...	५६
२५—	नवधा भक्ति	....	....	५७
२६—	दातार के गुण	....	....	५७
२७—	द्रव्य लक्षण	....	....	५८
२८—	पात्र स्वरूप	....	....	५८
२९—	सल्लेखना स्वरूप	....	...	५९
३०—	सम्यक के अतिचार	....	....	६१
३१—	बारह व्रतों के अतिचार	....	....	६२
३२—	वाह्य तप के भेद	....	....	६८
३३—	अन्तरंग तप के भेद	....	....	६९
३४—	मुनि की षट आवश्यक क्रिया	....	....	७०
३५—	व्यवहार त्रिगुप्ति वर्णन	....	....	७०
३६—	पंच समितियों का स्वरूप	....	....	७१
३७—	दस प्रकार मुनि धर्म का स्वरूप	....	....	७१
३८—	द्वादश अनुप्रेक्षा का स्वरूप	....	....	७२
३९—	वाइस परिषह का स्वरूप	....	....	७३
४०—	मोक्ष का अभ्यन्तर कारण	....	....	८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	६	प्रतिमाति	प्रतिभाति
७	१५	निगतत्वं	निजतत्त्वं
६	५	थाष	थाप
६	१६	कुहर	कुहट
१६	१	कात्स्नंरर्ज्यं	कात्सर्न्यं
१८	१	विमाव	विभाव
२०	१३	शकि	शक्ति
२१	२१	अठ्यन्त	अत्यन्त
२१	२२	धार्यमाणं	धार्यमाणं
२३	११	त्रय	भय
२३	१२	सरत्रसन्नि	सरकसन्नि
२६	१५	निम्मल	निर्मल
२६	१३	घातिनोऽभी	घातिनोऽमी
३१	५	पुमुच्चित	विभुच्चित
३१	६	सुत न	सु तन
३६	७	विधा	विधो
४०	६	जिने	जिन
४२	१३	कषायाश्व	कषायाश्च
४३	१२	तनकरणीयो	तनुकरणीयो
४५	१४	मुक्तिं	भुक्तिं
५५	१२	जजिये	तजिये
५५	१६	नवनीति	नवनीत
५६	१६	वहु	बहु
६४	१६-२२	पुद्धाल	पुद्गल
६७	१०	फुट	फुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	१४	श्रावक	मुनिराज
७२	२४	ऊदया	अदया
७३	६	धाम	धाभ
७४	११-१२-१८ २०-२२-२४	जप	जय
७५	१-२-५-६-१०-१३ १४-१६-१८-२१	जप	जय
७७	६	हुये	हेय
८०	५	स्वकीम	स्वकीय
८०	१६	मुक्त	युक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

श्री परमात्मने नमः श्री भगवदात्मने नमः

श्री परम पारिणमिक भावय नमः

श्री

पुरुषार्थसिद्धोपाय

मंगलाचरण

सिद्ध सिद्धि दाता सकल, आदि नाम अति वीर ।
वन्दों मुनिवर ते सदा, पहिन्यो संवर चीर ॥ १ ॥

अर्थ :—उन संपूर्ण सिद्ध जिनेश्वरों को भगवान आदिश्वर से महावीर पर्यन्त के चौबीस तीर्थंकरों को और संपूर्ण मुनिवरों को जिन्होंने अपने ध्यानवल से एकाग्र हो भाव कर्म (राग द्वेषादि) तथा (ज्ञानावरणादि) द्रव्य कर्मों के आने का मार्ग रोकने में सुविधि संवर का वाना पहिना है मैं उनको स्वरूप साधन के निमित्त जानते हुये नमस्कार करता हूँ।

वाणी जिन वर की खरी, टालै कुमति कुज्ञान ।
रोग खेद जड़ता हरै, भज पावै निज थान ॥ २ ॥

अर्थ :—मिथ्यात्व अज्ञान, कर्मबन्धन रूप रोग, खेद मोह को दूर करने में श्री जिनेन्द्र भगवान के वचन कहिये आगम खरी कहिये तराजू के समान वस्तु स्वरूप को वताने में समर्थ है तश्राआगम को सुविधि जान कर श्रद्धा आचरण करने से अपना सतस्वरूप प्राप्त होता है उसको वन्दों (पूर्व छन्द से लेकर) कहिये नमस्कार हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन प्रवचन रहस कोष, ग्रंथोतम सुख धाम ।
श्रीमतमृत चन्द कृत, सुमरूं आठों याम ॥ ३ ॥

अर्थ :—स्वरूप दर्शाने का हेतु होने से ग्रन्थों में श्रेष्ठ सुख नाम-साष्वत मोक्ष धाम को प्रगट करने में जो प्रधान निमित्त है ऐसा जिसमें जिनेन्द्र के दिव्य वचनों की रहस्यमय निधि है वा श्रीमत् पूज्य गुरुवर श्री अमृतचन्द्र जी द्वारा जो बनाया गया है जो जिन प्रवचन रहस्य कोष नाम से प्रसिद्ध है उसको निरन्तर-सदाकाल स्मरण करता रहूँ ।

पुरुषार्थ सिद्धोपाय, लोक श्रुत तसु नाम ।
कीनी भाषा वचनका मलजी नाथूराम ॥ ४ ॥

अर्थ :—उस जिन प्रवचन रहस्य कोष का नाम संसारी जनों में पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय नाम से प्रसिद्ध है जिसकी देश भाषा श्रीमत पंडित टोडरमल जी बड़जात्या जयपुर निवासी तथा उसी के आधार पर पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने की है ।

लख मम हिय उमग्यो अटल, होय कवित्त रसाल ।
सुखी होंय भव जीव पढ़, तजकर खोटो चाल ॥ ५ ॥

अर्थ :—उक्त विद्वानों द्वारा की हुई टीका के साथ मूल श्लोकों को देखकर—पढ़कर चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ और विचार हुआ कि यदि इसकी-मूल श्लोकों की कविता बनाई जावे तो भव्यजीव मिथ्यात्व को छोड़कर सुख प्राप्त करेंगे ।

नम मूल संघ गण गणी, कुन्द कुन्द ऋषिराज ।
भाखूं कविता श्लोक की, सिद्धि करण के काज ॥ ६ ॥

अर्थ :—अब अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये मूल संघ दिगम्बर आचार्य जिनको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई ऐसे पूज्य श्री कुन्द कुन्द आचार्य को नमस्कार करके प्रत्येक श्लोक की दोहा रूप कविता वर्णन करता हूँ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सूत्रावतारः

आर्या:—तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्त पर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

जयो परम ज्योति जामैं; दर्पणतल वत भास।
त्रिकालि अनन्त पर्याय; सभी पदारथ जास ॥ १ ॥

अर्थ :—जिसमें दर्पण के पृष्ठभाग के समान सम्पूर्ण पदार्थों का समूह अतीत अनागत वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना पदार्थ जयवन्त होओ।

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुर विधानम्।
सकलनय विलासितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

विरोध मथक नयन सहित, अनेकांत सुखकार।
टालै करिवाद जन्मांध, नम परमागम सार ॥ २ ॥

अर्थ :—जन्म से अन्धे पुरुष हाथी के पृथक पृथक अवयवों का स्पर्श करके उनसे हाथी का आकार निश्चय करने में वाद-विवाद करते हुये भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते और नेत्रवान पुरुष उनके सब कल्पनाकृत आकार विषयक वाद को क्षणमात्र में दूरकर देता है त्योंहीं अज्ञानी सम्यग्ज्ञान बिना सर्वाङ्ग वस्तु को न जानकर परस्पर वाद-विवाद करते रहते हैं उन समस्त विरोधों का मंथन करने वाले समस्त नयों से प्रकाशित उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवन भूत एकपक्ष रहित स्याद्वाद को मैं अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हूँ।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ॥ ३ ॥

पोरषसिद्धोपायजी, आगम जतना साजि।
लोकत्रै नेत्र अनुपम, वरणू विद्वत काजि ॥ ३ ॥

अर्थ :—तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अद्वितिय नेत्र उत्कृष्ट जैन आगम को अनेक प्रकार के उद्यम व उपायों करके परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरुपण पूर्वक हमारे द्वारा विद्वानों के अर्थ यह पुरुषार्थ सिध्द्यु पाय ग्रन्थ उद्धार किया जाता है।

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः।
व्यवहार निश्चयपज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

नाशै दुर्निवार अज्ञान, मुखोपचार विचार।
निश्चय व्योहारज्ञ जे, धर्म तीर्थ करतार ॥ ४ ॥

अर्थ :—मुख्य और उपचार कथन के विवरण से नष्ट किया है शिष्यों का दुर्निवार अज्ञान भाव जिन्हांने तथा व्यवहार नय और निश्चय नय के जानने वाले ऐसे आचार्य जगत में धर्म तीर्थ को प्रवर्तविते हैं।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोध विमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

निश्चय भूतारथ जानि, अभुतार्थ व्योहार।
निश्चय बोध विमुख भये, प्राय सभी संसार ॥ ५ ॥

अर्थ :—आचार्य श्री इन दोनों नयों में से इस समय निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं, बहुत करके भूतार्थ—निश्चय नय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है अर्थात् व्यवहार कथन को जो सत्य मानते हैं यही मान्यता वे समस्त ही संसार स्वरूप हैं।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवल मवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

अवुध बोधन मुनिवर दें अभूतार्थ उपदेश।
जानै साध्य मिथ्यादृष्टि, ताहि न यह संदेश ॥ ६ ॥

अर्थ :—ग्रन्थ करने वाले आचार्य अज्ञानी जीवों के ज्ञान उत्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने के लिये व्यवहार नय को उपदेश करते हैं और जो जीव केवल व्यवहार नय को ही साध्य जानता है उस मिथ्यादृष्टि के लिये उपदेश नहीं है।

माणवक एव सिंहों यथा भवत्यनव गीत सिंहस्य।
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७॥

जेह अपरिचित सिंह सों; तिन्है सिंह मरजार।
निश्चय नै न जानही; निचय होय व्योहार ॥ ७ ॥

अर्थ :—जैसे सिंह के सर्वथा न जानने वाले पुरुष को बिल्ली ही सिंह रूप होती है निश्चय करके उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय नय के रूप को प्राप्त होता है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रवुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८॥

यथा उभय नय तत्व सों; जान होय मध्यस्थ।
शिष पावै फल देशना, 'सागर' रूप समस्थ ॥ ८ ॥

अर्थ :—जो जीव व्यवहार नय और निश्चय नय के द्वारा वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् उभय नय से पक्षपात रहित होता है वह ही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

इति उत्थानिका

ग्रन्थ प्रारंभः

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्श गंध रस वर्णैः।
गुण पर्य्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्यय ध्रौव्यैः ॥ ९॥

उत्पाद व्यय ध्रौवजुत, कोष सुगुण परयाय।
परस गंध रस वर्णना, रूप चेतना थाय ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—पुरुष-आत्मा चेतना स्वरूप हैं। स्पर्श; रस, गंध और वर्ण से रहित है, गुण और पर्य्याय सहित है अर्थात् समवाय सम्वंध से स्थित है। तथा उत्पाद, व्यय ध्रौव्य करके निष्पन्न है।

परिणममानो नित्यं ज्ञान विवर्तैरादिसन्त्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

दरव करम जुत रागादि, रहो निरन्तर छाय।
करता भोक्ता नादि ते, रागादिक निज भाय ॥१०॥

अर्थ :—यह चैतन्य आत्मा अनादि परिपाटी से निरन्तर ज्ञानावरण आदि अष्टकर्म सहित रागादि परिणामों से परिणमते हुए अपने रागादि परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता भी होता है।

सर्व विवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

सर्व विभाव सुलांघ जिय; होय निकंप निजरूप।
शुभ पुरपार्थ सिद्धि तें कृत कृत्य जु अनूप ॥११॥

अर्थः—जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावों के पारंगत होकर अपने निष्कंप चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥

पुनि जिय विभाव निमित तें, अन्य पुद्गल स्कंध।
ते स्वयमेव परिणमें, द्रव कर्मादिक खंध ॥१२॥

अर्थः—इस प्रकरण में जीव के किये हुये रागादिक परिणामों को निमित्तमात्र—कारण मात्र पा करके फिर अन्य पुद्गल स्कंध—कार्माण वर्गणा स्वतः ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप से परिणमन करती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्त मात्रं पौद्‌गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

निचय आपही परिणमैं निज चिदात्मक भाव ।
निमित मात पुद्‌गल करम, आतम करै कुभाव ॥१३॥

अर्थः—निश्चय करके अपने चेतना स्वरूप रागादिक परिणामों से आप ही परिणमते हुये पूर्वोक्त आत्मा के भी पुद्‌गल सम्वन्धी ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म कारण मात्र होते हैं।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरस माहितोऽपि युक्त इव ।
प्रति भाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजं ॥१४॥

यों या भांति संयुक्त ना, दरव करम परिणाम ।
पै भासत अज्ञानि कोह, निश्चय जगत मुकाम ॥१४॥

अर्थः—इस प्रकार यह आत्मा कर्मों के किये हुये भावों से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त सरीखा प्रतिभासित होता है, और वह प्रतिभास ही निश्चय करके संसार का बीज भूत है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निगतत्वं ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्य पायोऽयं ॥१५॥

पोरष सिधि उपाय यही, देय कुसरधा नास ।
यथावत निजहिजानके, अविचल निज में वास ॥१५॥

अर्थः—विपरीत श्रद्धान को नष्ट कर निज स्वरूप को यथावत जान के जो अपने उस स्वरूप से च्युत न होना वह ही यह पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है।

अनुसरतां पदमेतत् करम्विताचार नित्यनिरभिमुखा ।
एकान्त विरति रुपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६॥

पाप विरत वर्तन सदा, जग विलछ्या उदासीन ।
मुनि मारगी मोक्ष के, सेवें रत्ना तीन ॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—इस रत्नत्रयरूप पदवी को अनुशरण करने वाले प्राप्त हुये महामुनियों की वृत्ति कहिये अंतरंग परिणाम पापक्रिया सम्मिश्रित आचारों से सर्वदा पराङ्गमुख तथा परद्रव्यों से सर्वथा उदासीन रूप और लोक से विलक्षण प्रकार की होती है।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेश विरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

बहुवार कथित विरति जो, धरै न सकल कदाच।
एक देश विरति तब कहें, जीव हिये को जाँच ॥१७॥

अर्थः—जो जीव वारम्बार दिखलाई हुई समस्त पाप रहित मुनि वृत्ति को कदाचित ग्रहण न करे तो उसे एकोदेश पाप क्रिया रहित ग्रहस्थाचार को इस हेतु से समझावे अर्थात् कथन करै।

यो यतिधर्ममकथयन्नुप दिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानं ॥१८॥

मुनी धरम को गौण कर, कह गृही उपदेश।
दंड योग वह अलपमति, जिनमत माँहि विषेष ॥१८॥

अर्थः—जो तुच्छ बुद्धि उपदेशक, मुनि धर्म को नहीं कह करके श्रावक धर्म को उपदेश देता है उस उपदेशक को भगवत के सिद्धांत में दंड देने का स्थान प्रदर्शित किया है।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽति दूरमपि शिष्यः
अपदेऽपिसम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

अक्रम कथन प्रथम ही दुर्मति के मुख जान।
अति उत्साहित शिष्य भी, तुष्ट ठगा तुच्छथान ॥१९॥

अर्थः—जिस कारण से उस दुर्बुद्धि के क्रमभंग कथन रूप उपदेश करने से अत्यन्त दूर तक उत्साह मान हुआ भी शिष्य तुच्छ स्थान में संतुष्ट होकर ठगाया हुआ होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ श्रावक धर्म व्याख्यानमाह

एवं सम्यग्दर्शनबोध चरित्रत्रयात्मको नित्यं ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवतिनिषेव्यो यथाशक्ति ॥२०॥

तिभेद सम्यक रतन मय, मारग मुकती माप ।
गृही सेवन जोग भी, आप सकति को थाप ॥२०॥

अर्थः—इस प्रकार (जिसको आगे कहेंगे) उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग चारित्र इन तीन भेद रूप मुक्ति का मार्ग सर्वदा सेवन करने योग्य होता है ।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिल यत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सत्य उपाय पाय प्रथम सम्यक दर्शन सार ।
ताही सौं ज्ञान चारित्र, भव सम्यक सुखकार ॥२१॥

अर्थः—इन तीनों के पहले समस्त प्रकार के उपायों से सम्यग्दर्शन भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये क्योंकि इसके अस्तित्व होते हुये ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र होता है ।

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्तव्यम ।
श्रद्धानंविपरीताभि निवेशविविक्तमात्मरूपंतेत् ॥२२॥

जीव अजीव आदि विषै, तत्व अर्थ विश्वास ।
कुहर आग्रह रहित नित, सोही निज का भास ॥२२॥

अर्थः—जीव अजीव आदिक तत्वों के अर्थों का विपरीत हठाग्रहरहित अर्थात् और का और मिथ्यात्व रूप ज्ञान रहित श्रद्धान अर्थात् दृढ़ विश्वास निरन्तर ही करने योग्य है और वह ही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्व के अष्ट अंगों का वर्णन

(१) निःशङ्कित अङ्ग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३॥

अनेकान्तात्मक कही, वस्तु सकल सरवग।
किम सत्यासत्य कदाचि, धरै न शंक जिनमग ॥२३॥

अर्थः—सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा यह समस्त जीवादिक पदार्थों का समूह अनेक स्वभावरूप कहा गया है सो क्या सत्य है? वा झूँठ है? ऐसी शंका कदाचित भी नहीं करनी चाहिये।

(२) निःकाङ्कित अङ्ग

इह जन्मनि विभवादीन्य मुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन।
एकान्तवाद दूषित परसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥२४॥

चाह न पर समय विभव, सहित एकांत कुवाद।
पद इह भव परलोक में केशव चक्री आद ॥२४॥

अर्थः—इस लोक में ऐश्वर्य्य सम्पदा आदि को परलोक में चक्रवर्ती नारायणादि पदों को और एकान्त स्वभाववादी अन्य धर्मों को भी नहीं चाहें।

(३) निर्विचिकित्सा अङ्ग

क्षुत्तृष्णा शीतोष्ण प्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

शीतोष्ण तिस छुदादि में, अर बहु विध के भाव।
विष्टादिक पदार्थ विषै, होय गिलान अभाव ॥२५॥

अर्थ—भूख, प्यास, शीत, उष्ण, आदि नाना प्रकार के भावों में और विष्टादिक पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) अमूढ़ दृष्टित्व अङ्ग

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्व रुचिना कर्तव्यममूढ़दृष्टित्वम् ॥२६॥

शास्त्र समय कुदेव के, अभास जग विख्यात।
नित अमूढ़ दिष्टि राखै, तत्व रुचो को तात ॥२६॥

अर्थः—लोक में शास्त्राभास (कहिये यथार्थ में पदार्थ जैसा है वैसा न जान अन्य प्रकार देखना उसको आभास कहते हैं) में धर्माभास में और देवताभास में तत्वों में रुची रखने वाले पुरुष को सदा ही मूर्खता रहित दृष्टित्व करना चाहिये।

(५) उपगूहन अङ्ग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादि भावनया।
परदोष निगूहनमपि विधेयमुपब्रंहण गुणार्थम ॥२७॥

उपबृंहण गुण अर्थ को, निज धर्मोंनति हेत।
नित दोष परके ढांकै, क्षमादि मार्दव सेत ॥२७॥

अर्थ :—उपबृंहण नामक गुण के अर्थ मार्दव क्षमा संतोषादि भावों के द्वारा निरन्तर अपने आत्मा के धर्म अर्थात् शुद्ध स्वभाव को वृद्धिगत करना चाहिए और अन्य पुरुषों के दोषों को भो गुप्त रखना कर्तव्य कर्म है।

(६) स्थितिकरण अंग

काम क्रोध मदादिषु चलयितु मुदितेषुवर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्प च युक्त्या स्थितिं करणपि कार्यं ॥२८॥

न्याय मारग च्युत करै, क्रोध काम मदार।
तब निज पर को युकति सों, थापै धरम मझार ॥२८॥

अर्थ :—काम क्रोध मद लोभादिक भावों के होने पर न्याय मार्ग, धर्म मार्ग से च्युत करने को प्रगट होते हुये अपने आपको और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य पुरुषों को भी जिस तिस प्रकार युक्तियों से धर्म में स्थिरीभूत करना भी कर्त्तव्य है।

(७) वात्सल्य अङ्ग

अनवरतमहिंसायां शिव सुख लक्ष्मी निबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यम् ॥२६॥

जिन धरम अहिंसा जान के, शिव सुख धन करतार।
कर नित साधरमीन सों, परम प्रीति व्योहार ॥२९॥

अर्थः—मोक्ष सुख की सम्पदा के कारण भूत जैन धर्म में अहिंसा में और समस्त ही उक्तधर्म सहित अर्थात् साधर्मीजनों में निरंतर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीति को अवलंबन करना चाहिये।

(८) प्रभावना अङ्ग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान तपो जिन पूजा विद्यातिशयैश्च जिन धर्मः ॥३०॥

नित निज में धरै अतिशय, रतन तीन के तेज।
पूज जिन धर्म दिपावै, बुद्धि दान तप सेज ॥३०॥

अर्थ :—निरन्तर ही रत्न त्रय के तेज से अपने आत्मा को प्रभावना संयुक्त करना चाहिये और दान तपश्चरण, जिन पूजन, विद्याभ्यास आदि चमत्कारों से जिन धर्म प्रभावनायुक्त करना चाहिए।

सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः समाप्तः

अथ सम्मग्ज्ञान व्याख्यानमाह

इत्या श्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाय युक्ति योगैः समुपास्यं नित्यमात्म हितैः॥

या विधि समकित धारके, आत्म हितैषी लोग।
आमना युकति योग सों, धरो सुज्ञान उद्योग ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—इस प्रकार आश्रित है सम्यक्त्व जिनके ऐसे आत्मा के हितकारी पुरुषों से सर्वदा जिना गम की परम्परा व युक्ति अर्थात् प्रमाण नय के अनुयोगों द्वारा विचार करके यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान भले प्रकार सेवन करने योग्य हैं।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शन सहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं संभवत्य नयोः ॥३२॥

उदय साथ ही है सदा, समकित दर्शण ज्ञान।
पै भिन राधन श्रेय है, अंतर लक्षण जान ॥३२॥

अर्थ :—सम्यग्ज्ञान का सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी पृथक ही आराधन करना कल्याण कारी है, क्योंकि इन दोनों में लक्षण भेद कर भिन्नता संभव होती है।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्तं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

समकित कारण ज्ञान का, कारज सम्यग ज्ञान।
पहिले समकित पूज पुनि, कही ज्ञान भगवान ॥३३॥

अर्थ :—जिनेन्द्र देव सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं, इस कारण सम्यक्त्व के पीछे ही ज्ञान की उपासना करना योग्य है।

कारण कार्य विधानं समकालं जायमानयो रपि हि॥
दीप प्रकाशयोरिव सम्यक्त्व ज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

यदपि उभय का जानिये, उत्पति काल समान।
पै दीपक परकास वत, कारण काज पिछान ॥३४॥

अर्थ :—निश्चय कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों के एक काल अविच्छिन्न उत्पन्न होने पर भी दीप और प्रकाश के समान कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्तव्योध्यसायः सदने कान्तात्म केषु तत्वेषु ।
संशय विपर्य्य यानध्यवसाय विविक्तमात्म रूपं तत् ॥३५॥

प्रसस्त अनेकान्त मय, तत्व पदारथ जान ।
विपरज संश विमोह बिन, आप रूप तत ज्ञान ॥३५॥

अर्थ :—प्रशस्त अनेकान्तात्मक—अनेक स्वभाव वाले तत्वों व पदार्थों में जानपना करना योग्य है और वह सम्यग्ज्ञान संशय विपर्यय और विमोह रहित आत्मा का निज स्वरूप है ।

ग्रन्थार्थोभय पूर्ण काले विनयेन सोपधानं च ।
बहु मानेन समान्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

शब्द अरथ पुनि उभयजुत, काल विनय उपधान ।
अनिन्हव बहुमान सोंह, अराध ज्ञान महान ॥३६॥

अर्थ :—ग्रंथ रूप—शब्द रूप, अर्थ रूप और उभय—शब्द अर्थ रूप शुद्धता से परिपूर्ण काल में अर्थात् अध्ययन काल में आराधने योग्य मन वचन काम की शुद्ध सार रूप विनय और अतिशय सन्मान कर [अर्थात् देव गुरु शास्त्र की वंदना नमस्कारा दि कर] सहित, धारणायुक्त तथा शिक्षक—गुरु की गोपना से रहित ज्ञान आराधन करने योग्य है ।

इति सम्यग्ज्ञान वर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः

अथ सम्यक् चारित्र व्याख्यानमाह

विगलित दर्शन मोहैः समञ्ज स ज्ञान विदित तत्वार्थैः ।
नित्यमपि निः प्रकम्पैः सम्यक् चारित्र मालम्ब्यम् ॥३७॥

दरसन मोह गालि दियो, शुभ तत्वारथ भास ।
दिढ़ चित राखै जो सदा, धारै चारित खास ॥३७॥

अर्थ :—दर्शन मोह जिन्होंने नष्ट कर डाला है, सम्यक् ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन्हें तत्वार्थ विदित हुआ है, जो सदा काल दृढ़ चित है उसे पुरुषों द्वारा सम्पक् चारित्र अवलंबन करने योग्य है।

नहि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अज्ञान भावयुत चारित, नाहिं सुचारित नाम।
तातैं सुज्ञान धारकै, धर चारित सुख ठाम ॥३८॥

अर्थ :—जिसके पूर्व में अज्ञान भाव है ऐसा चारित्र सम्पक् नाम को नहीं पाता इस कारण सम्पकज्ञान के पश्चात चारित्र का आराधन कहा है।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोग परि हरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्म रूपं तत् ॥३९॥

सब पाप योग टाल के, हो पर कषाय विरत।
आतम रूप ताको कहै, विशद चारित उन्नत ॥३९॥

अर्थ :—क्योंकि समस्त पाप युक्त मन वचन काय के योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित अतएव, निर्मल, पर पदार्थों से विरक्तता रूप चारित्र होता है इसलिए वह चारित्र आतमा का स्वरूप है।

हिन्सातोऽनृत वचनात्स्ते यादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्र जायते द्विविधम् ॥४०॥

हिन्सा चोरी झूंठ का, मिथुन परिग्रह त्याग।
एकोदेश सकलोदेश, हो चारित दो भाग ॥४०॥

अर्थ :—हिन्सा से, असत्य भाषण से, चोरी से, कुशील से, और परिग्रह से सर्व देश और एकोदेश त्याग से चारित्र दो प्रकार का होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरतः कार्त्स्नर्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।
या त्वेकदेश विरति निरस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

सरव देश के त्याग रत, मुनि लीन निजाचार ।
पालें देश चारित को, नाम श्रावक सार ॥४१॥

अर्थ :—उस सर्वथा सर्व देश त्याग में लवलीन यह मुनि सुद्धोपयोग रूप स्वरूप में आचरण करने वाला होता है। और जो एक देश विरति है। उसमें लगा हुआ श्रावक होता है।

(हिंसा अहिंसा वर्णन)

आत्म परिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

सब हिन्सा ही हैं जहां, हो सुध भावन छेद ।
शिष बोधन केवल कहे, अनृत आदिक भेद ॥४२॥

अर्थ :—आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात होने के हेतु से यह संपूर्ण हिन्सा ही है, अनृतवचनादिक भेद केवल मात्र शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरण रूप कहे हैं।

यत्खलु कषाय योगात्प्राणानां द्रव्यभाव रूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिन्सा ॥४३॥

खलु कषाय रत योग सों, उभय प्राण का घात ।
सुनिश्चत हिन्सा वह भई, भाव द्रव्य दो जात ॥४३॥

अर्थ :—निश्चय कर कषाय रूप परिणमन हुये मन वचन काय के योगों से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण कहिये घात का करना है वह अच्छी तरह निश्चय की हुई हिन्सा होती है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्रगट रागादिक जब, है अहिन्सा सुखकार।
वध हो रागादिक उदै, जिनमत का यह सार ॥४४॥

अर्थ :—निश्चय करके राग, आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक जुगुप्सा प्रमादादिक समस्त विभाव भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा कहलाती है। ऐसा जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त रहस्य है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेश मन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिन्सा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

समिति सहित वरते सदा, विन रागादिक भाव।
पुनि प्राणघात होय जो, हिन्सा लेश अभाव ॥४५॥

अर्थः—निश्चयकर योग्य आचरण वाले सन्त पुरुष के रागादिक भावों के अनुप्रवेश विना केवल प्राण पीड़न से हिन्सा कदाचित भी नहीं होती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

जतन रहित परमाद में, रत रागादिक भाव।
जीव मरो वा ना मरो, हिंसा दोड़ स्वभाव ॥४६॥

अर्थः—रागादिक भावों के वश में प्रवृत्ति रूप अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो अथवा न मरो परन्तु हिंसा तो निश्चयकर आगे ही दौड़ती है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह निज को निज हते, कर विभाव परनाम।
पुनि अन्य जीव का चहे, होय न काम तमाम ॥४७॥

अर्थः—क्योंकि जीव कषाय भावों सहित होने से पहिले आपके ही द्वारा आपको घातता है फिर पीछे से चाहें अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा नहीं होवे।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्त योगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥
नाहि विरत हिंनसा विषै, पुनि रत हिनसा भाव।
सतत प्रमादि होन ते, प्राण घात सद्भाव ॥४८॥

अर्थः—हिंसा में विरक्त न होना हिन्सा, और हिन्सारूप परिणमना भी हिन्सा होती है इसलिये प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥
खलु पर निमित जीव के, होय न हिन्स कदाप।
पै भाव विशद कारने, हिन्स थान को खाँप ॥४९॥

अर्थः—निश्चयकर आत्मा के पर वस्तु का है निबन्धन अर्थात् पर वस्तु का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है जिससें ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है, तौ भी परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के स्थान (परिग्रहादिकों) का त्याग करना उचित है।

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥५०॥
निश्चय रूप न जानके, मानै ताहि विचार।
सो वाह्य क्रिया अलस, धरै न वाह्याचार ॥५०॥

अर्थः—जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को नहीं जानकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसको ही निश्चय श्रद्धान से अंगीकार करता है याने अंतरंग हिंसा को ही हिन्सा मानता है वह मूर्ख वाह्य क्रिया में आलसी है और वाह्य क्रियारूप आचरण को नष्ट करता है।

अविधायापि हि हिंसा हिंसा फल भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफल भाजनं न स्यात् ॥५१॥
इक हिन्सा कीनी नहीं, भोगे हिन्सा पाप।
अपर ताकी क्रिया कर, ना भोगे फल आप ॥५१॥

अर्थः—निश्चय कर कोई जीव हिन्सा को नहीं करके भी हिन्सा फल के भोगने का पात्र होता है और दूसरा हिन्सा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता है अर्थात् परिणाम आधीन फल मिलता है।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्प फला भवति परिपाके ॥५२॥
थोड़ी हिन्सा बहुत फल, पावै उदय मझार।
बहु कीनो थोड़ी फलै, यह है भाव विचार ॥५२॥

अर्थः—एक जीव को तो थोड़ी हिंसा उदय काल में बहुत फल को देती है। और किसी जीव को बड़ी भारी हिंसा भी उदय समय में बिलकुल थोड़े फल को देने वाली होती है [यह सब परिणामों के हिन्सा भाव से हीनाधिक लिप्ति का ही फल है।]

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्द मन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फल काले ॥५३॥
साथ ही मिल हिंस करी, सुविचित उदयाकार।
एकै हीन फल को लहै, दूजा बहु अधिकार ॥५३॥

अर्थः—एक साथ मिलकर की हुई भी हिन्सा इस उदय काल में विचित्रता को प्राप्त होती है और किसी को वही हिन्सा तीव्र फल देती है और किसी को वही हिंसा न्यून फल देती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

कोई प्रथम ही फलै, पुनि करतहि फल देत।
करहु, कर आरभ पुनि ना, फल परिणाम समेत ॥५४॥

अर्थः—कोई हिंसा पहिले ही फल जाती है, याने हिंसा करने के विचार को क्रिया रूप [अवसर न मिलने से] न कर सका और उन कषाय परिणामों द्वारा जिनसे हिंसा का संकल्प किया गया था बंधे हुये कर्मों का फल उदय में आगया पश्चात इच्छित हिंसा करने को समर्थ हो सका। कोई करते ही फलती है याने हिन्सा के विचार द्वारा बांधे हुये कर्म के फल को उदय में आने की अवधि तक वह उक्त हिंसा करने को समर्थ होसका कोई हिंसा कर चुकने पर भी फल देती है और कोई हिंसा करने का आरंभ करके न करने पर भी फल देती है याने शक्ति आदि कारण के अभाव से हिंसा न कर सकने पर भी आरभ जनित बंध का फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा, प्रयोजन केवल इतना ही है कि हिंसा कषाय भावों के अनुसार ही फल देती है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

करै एकही हिन्स करम फल भोगें बहु जीव।
बहुत ही करैं हिन्स को, लहे फल एक सदीव ॥५५॥

अर्थ—एक पुरुष हिंसा को करता है परन्तु उसे अच्छा कह प्रसन्न होने से फल भोगने के भागी बहुत होते हैं इसी प्रकार हिंसा को बहुत जन करते हैं परन्तु हिंसा के फल का भोक्ता एक पुरुष ही होता है जैसे संग्राम की आज्ञा देने वाला राजा।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसा फलमेकमेव फल काले।
अन्यस्य सैव हिन्सा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा हिनसा फल एकहि, उदय काल के माँहिं ।
इक वाही के कारणे, कुफल अनेक उपाहिं ॥५६॥

अर्थः—किसी पुरुष को तो हिंसा उदय काल में एकही हिंसा के फल को देती है और किसी पुरुष को वही हिंसा वहुत सी अहिंसा के फल को देती है ।

हिंसाफलम परस्य तु ददात्य हिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत् ॥५७॥
अहिंसांत् उदय विषै, पाप रूप दुखकार ।
हिन्साहु अहिन्सा फलै, लगै न पाप लगार ॥५७॥

अर्थः—और किसी को अहिन्सा (पाप परिणामों से की हुई होने से) उदय काल में हिंसा के फल को देती है। तथा अन्य किसी को जैसे वैद्य डाक्टर को हिंसा अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल को नहीं देती है ।

इति विविधभङ्ग गहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥
यों विविध भंग वन गहन, मार्ग मूढ़ जे होय ।
सुनय ज्ञाता गुरू विना, शरण न तिनको कोय ॥५८॥

अर्थः—इस प्रकार अत्यन्त कठिन नाना प्रकार भंग रूप गहन वन में मार्ग मूढ़ दृष्टि पुरुषों को याने मार्ग भूले हुये पुरुषों को अनेक प्रकार के नय समूह को जानने वाले श्री गुरू ही शरण होते हैं ।

अत्यन्तनिशितधारं दुराशदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५६॥
जिननय चक्र दुसाध है, जैसे असि की धार ।
जिया धारी खराड करै, मूढ़ माथ तत्कार ॥५९॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान का अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुसाध्य नय चक्र धारण किया हुआ पुरुष अज्ञानी जनों के मस्तका को शीघ्र ही खंडन करता है अर्थात् जीतता है।

अववुध्य हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसा फलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूह्य मानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

हिंस्य हिनसक अर हिन्सा, पुनि फल हिन्सा जान।
संवर उद्यत सुध सदा, त्यागो सकति समान ॥६०॥

अर्थः—निरंतर संवर में उद्यमवान पुरुषों को यथार्थता से हिंस्य—जिनकी हिंसा की जावे ऐसे अपने अथवा पर जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण हिंसक—हिंसा करने वाला जीव, हिंसा—हिंस्य के प्राण पीड़न की अथवा प्राणघात की क्रिया और हिंसा फल—हिंसा से प्राप्त होने वाले नरक निगोदादिक फलों को जानकर अपनी शक्त्यानुसार हिंसा छोड़ना चाहिए।

अष्ट मूल गुण

मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

हिन्सा छोड़न जो चहे, त्याग करै सब आद।
पंच उदम्बर शहद अर, मद्य मास का स्वाद ॥६१॥

अर्थः—हिंसा त्याग करने की कामना वाले पुरुषों करके प्रथम ही यत्न पूर्वक शराव, मांस, शहद और ऊमर, कठूमर, पीपर, वड़ पाकर वृक्षों के फल जिसमें प्रत्यक्ष त्रस जीव देखने में आते हैं। जो उदुम्वर फल कहलाते हैं अवश्य ही छोड़ देना योग्य है।

मदिरा निषेध

मद्यं मोह यति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

मदिरा मन मोहित करै, मोहित धरम विसार।
रहित धरम हिन्सा करै, होय निडर अविचार ॥६२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—शराब मन को मोहित करती है और मोहित चित्त पुरुष धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निडर हो करके हिंसा को करने लगता है।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥
मदिरा जननी जीव की, रस विविध सोंहे साज।
सेवन जो ताको करै, निश्चय हिंसा काज ॥६३॥

अर्थः—और मदिरा बहुत से रस से उत्पन्न हुये जीवों की योनि कही जाती है इस कारण जो मदिरा को सेवन करते हैं उनसे उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है।

अभिमान त्रय जुगुप्सा हास्यारति शोक कामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्नि हिताः ॥६४॥
किरोध हाँसि अरति मान, ग्लानि काम भय सोक।
हिंसा के हों भेद ये, मदिरा बधु अटोक ॥६४॥

अर्थः—और घमण्ड डर ग्लानि हास्य अरति शोक काम क्रोध आदि हिंसा के ही पर्याय व भेद हैं ये सब ही मदिरा के निकटवर्ती कहिये सगे बन्धु हैं।

मांस दोष

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यतेयस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥
विन प्राण घात होय ना मांस निंद्य अपार।
याको खावें जे पुरुष, हिंसा हो अनिवार ॥६५॥

अर्थः—क्योंकि प्राणों के घात किये विना मांस की उत्पति नहीं कही जाती इस कारण मांस भक्षी पुरुष के अनिवार्य हिंसा होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिष वृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रित निगोतनिर्मथनात् ॥६६॥
वलध भैंसादिक जीव जे मरे आप से आप।
जिय मथन मृत मांस हू, खाये होवें पाप ॥६६॥

अर्थः—यदपि प्रगट में आपसे ही मरे हुये भैंस वैलादिकों का मांस होता है, किन्तु उस मांस के खाने में भी उस मांस के आश्रित जिस जीव का वह मांस है उसी जाति के सूक्ष्म असंख्यात त्रस जीव रहते हैं।

आमास्वपि पक्कास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥
विन पके, पके अधपके, सवही मांस डलादि।
तत्जाति सन्मूर्छण जिय, होंय सदा उत्पादि ॥६७॥

अर्थः—बिना पकी, पकी हुई तथा पकती हुई भी मांस की डलियों में उसी कहिये जिस जीव की मांस पेशी है उसी जाति के सम्मूर्छन जीवों का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है।

आमां वा पकां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं।
स निहन्ति सतत निचितं पिण्डं वहुजीव कोटीनाम् ॥६८॥
भुनी कच्ची मांस डली, छीवै खावै जीव।
जिय हनें वहु विविध जाति, सिमटे सतत सदीव ॥६८॥

अर्थः—जो जीव कच्ची अथवा आग में पकी हुई मांस डली को भक्षण करता है अथवा छूता है वह पुरुष निरन्तर एकत्रित किये हुए अनेक जाति के जीव समूह के पिन्ड को हनता है।

मधु दोष वर्णन

मधुशकलमपिप्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढ़धीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तं ॥६९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कनहूँ मात शहद सकल, माखी हिन्सा खान।
याहि भखें जग मूढ़ जे, होय हिंस अमान ॥६९॥

अर्थः—इस लोक में मधु का कण भी मक्खियों की हिंसारूप होता है अतएव जो मूर्खबुद्धि पुरुष शहद को खाता है वह अत्यन्त हिंसा का करने वाला होता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधु गोलात।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय प्राणिनां घातात् ॥७०॥

कपट गही वा छत गिरी, माखी उगली आप।
आश्रित जीव मथन तें, तोहू हिन्सा पाप ॥७०॥

अर्थः—और जो मधु के छत्ते से, कपट से अथवा मक्खियों द्वारा स्वयमेव उगली हुई ग्रहण की जाती है, वहां भी उसके आश्रय-भूत प्राणियों के घात से हिंसा होती है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

ततवरण के जीव अनत, मद्य मखन मधु मांस।
बहु विकारी रे व्रती, लेशहु भखो न जास ॥७१॥

अर्थ—शहद, मदिरा, मक्खन और मांस तथा महा विकारों को धारण किये हुयें पदार्थों को व्रती पुरुष हो करके भक्षण करने योग्य नहीं हैं क्योंकि उन वस्तुओं में उसी वर्ण व जाति के जीव होते हैं।

पंच उदम्बर दोष

योनिरुदुम्बर युग्मं प्लक्षन्य ग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रस जीवानां तस्मात्तेषाम् तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

फल ऊमर कठूमर के, वड़ पीपर पिलखान।
त्रस जियन की योनि वे, खाए हिन्स महान ॥७२॥

अर्थः—ऊमर, कठूमर, पिलखन, वड़ और पीपल के फल त्रस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवों की योनि है इस कारण उनके भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादि रूपा स्यात् ॥७३॥

सूखेहू ना भख वे, त्रस रहित जब होंय।
पातक विशिष्ट राग को, तिनको भुंजे जोय ॥७३॥

अर्थः—और फिर भी जो पांच उदम्बर सूखे हुये काल पाकर त्रस जीवों से रहित हो जावें तो उनको भी भक्षण करने वाले के विशेष रागादि रूप हिंसा होती है।

अष्टावनिष्ट दुस्तर दुरिताय तनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिन धम देशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धाधियः ॥७४॥

दुखदा दुस्तर पापमय, त्यागो आठों वीर।
तव जिनमत उपदेश के, पात्र सुबुध गम्भीर ॥७४॥

अर्थः—दुख दायक दुस्तर और पापों के स्थान इन आठ पदार्थों को (५ उदम्बर, ३ मकार) परित्याग करके निर्म्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

धर्ममहिंसा रूपं संश्रृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावर हिंसामसहास्त्रसहिंसां तेपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

सुन अहिंसा फिरहु असक, थावर वध के त्याग।
तिनै तजन ही जोग हैं, हिंस तिरस बड़भाग ॥७५॥

अर्थः—जो जीव अहिंसा रूपी धर्म को श्रवण करके भी स्थावर जीवों की हिंसा के छोड़ने को असमर्थ हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा को छोड़े।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनो भिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्र रूपापवादिकी त्वेषा ॥७६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृत कारित अनुमोदन, काय वचन मन साद ।
उत्सर्ग त्याग ये नव विधि, त्याग विविध अपवाद ॥७६॥

अर्थः—उत्सर्गरूप निवृत्ति-त्याग कृत कारित अनुमोदना रूप मन वचन काय करके नव प्रकार की कही है और यह अपवाद रूप निवृत्ति तो अनेक रूप है।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्य विषयाणाम् ।
शेष स्थावर मारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

न्यायमय इन्द्रिय विषय, सेवे श्रावक जान ।
अल्प इक घात छाँड़के, शेष करै पर मान ॥७७॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों की न्याय पूर्वक सेवन करने वाले श्रावकों को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त अवशेष स्थावर—एकेन्द्रिय जीवों के मारने का त्याग भी अवश्यमेव करने योग्य होता है याने व्यर्थ व असावधानता पूर्वक एकेन्द्री जीवों का घात नहीं करना चाहिये।

अमृत्व हेतु भूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यं ॥७८॥

लख असमंजस मूढ़ थें, विकल होय न कदाप ।
वर रसायण अहिंस हैं, मुक्ती मूल अपाप ॥७८॥

अर्थः—अमृतत्व-मोक्ष के कारण भूत उत्कृष्ट अहिंसा रूपी रसायन को प्राप्त करके अज्ञानी जीवों के असंगत वर्ताव यानि उनको सुख सातायुक्त देख कर आपको अहिंसा धर्म पालते हुये भी दुखी जानकर आदि कारणों को देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिये, धर्म से चलायमान नहीं होना चाहिये।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरम हेतु दोष नहीं, जिय अबोध इम ठानि।
भूल न देही हिंसिये, धरम सु सूक्ष्म ज्ञानि ॥७९॥

अर्थः—परमेश्वर कथित धर्म अथवा ज्ञान सहित धर्म बहुत बारीक है, अतएव "धर्म के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं है" ऐसे धर्म में मूढ़ होकर कदाचित शरीर धारी जीव नहीं मारना चाहिये।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विबेक कलितां धिषणां न प्राप्यदेहिनो हिंस्याः ॥८०॥
जग सब देना जोग है, धर्म देव सों जान।
होय अबुध कीजे नहीं, देही जीव बलिदान ॥८०॥

अर्थः—"निश्चय करके धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है। अतएव इस लोक में उनके लिए सब ही देदेना योग्य है" ऐसे अविवेकी होकर शरीर धारी जीव नहीं मारना चाहिये। अर्थात् बलि आदि देना उचित नहीं है।

पूज्य निमित्तं घाते छागा दीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्व संज्ञपनम् ॥८१॥
वध छागादिक दोष ना, अतिथि पूज के काज।
इम विचार ना घातिये, तिनको जीव समाज ॥८१॥

अर्थ :—"पूजने योग्य पुरुषों अतिथि के लिये बकरा आदिक जीवों के घात करने में कोई भी दोष नहीं है" ऐसा विचार करके अतिथि व शिष्ट पुरुषों के लिये जीवों का घात करना योग्य नहीं है।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥
अशन जीव इक घात का, जीव घात बहु बीच।
भूल न वध वर जानके, जंगम नयना मीच ॥८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—"बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुये भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा विचार करके कदाचित भी जंगम जीव का वध नहीं करना चाहिये। [क्योंकि एकेन्द्री आदिक से ऊपर २ अधिक २ प्राण होते हैं]।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीव हरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्त्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

एक जीव को मारते, पायें बहु सुख सार।
ऐसे तुम जिय मानके, खेलो नाहिं शिकार ॥८३॥

अर्थ :—"इस एक ही जीव के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है" जैसे सर्प, शेर, बिच्छू आदि के वध करने से उनके वध्य अनेक जीव बच जावेंगे ऐसा मान कर हिंसक जीवों की भी हिंसा—शिकार नहीं करनी चाहिये।

बहुसत्त्वघातिनोऽभी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापं।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥

जीवत पाप उपायगा, करके बहु का घात।
इम अनुकंपित होयके, कीजे हिंस न तात ॥८४॥

अर्थ :—"बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥ ८५ ॥

बहु दुख दुखिया जीव को, दुख अभाव क हेत।
कुवासना इम धारके, प्राण न करिये खेत ॥८५॥

अर्थ :—और "अनेक दुःखों से पीड़ित जीव मारे जाने पर शीघ्र ही दुःख से मुक्त हो जावेंगे" इस प्रकार की वासना तर्कना रूपी तलवार को अंगीकार करके दुःखी जीव भी नहीं मारना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नोट—हिन्दी छन्द में 'कुवासना इम धारके' के बजाय 'कुवासना किरपान से' भी पढ़ सकते हैं।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥

घाते सुखिया सुख हों, कष्ट साध सुख लाभ।
इविध खड़ग कुतर्क लेय, हिंसा करो न घाभ ॥८६॥

अर्थ :—"सुख की प्राप्ति बड़े कष्ट से (तपश्चरणादिक करने से) होती है इसलिये मारे हुए सुखी जीव सुखी ही होवेंगे" इस प्रकार कुतर्क का खड़ग सुखियों के घात के लिये अंगीकार करना योग्य नहीं है।

उपलब्धि सुगति साधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषितो ॥ ८७ ॥

सुगति साधन समाधिरत, सुअभ्यस्त गुर शीस।
सुधरम बांछक शिष्य जो, हने न उच पद भीस ॥८७॥

अर्थ :—सत्य धर्म के अभिलाषी शिष्य के द्वारा अधिक अभ्यास से सुगति करने में कारण भूत समाधि का सार प्राप्त करने वाले अपने गुरु का मस्तक नहीं काटा जाना चाहिये।

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।
झटिति घट चटक मोक्षं श्रद्धेयं नैव खार पटिकानां ॥ ८८ ॥

वधमय खेलें खारपट, लघु धन गुरता लाभ।
घट फूटे चट पछ छुटै, त्यों न मुकत सरधाभ ॥८८॥

अर्थ :—थोड़े से धन के लोभी और शिष्यों के विश्वास उत्पन्न करने के लिये नाना प्रकार के खेल—रीतियां दिखलाने वाले खार पटिक—एक मत विशेष के लोगों के समान जो घड़े में कैद की हुई चिड़िया घड़े के फूट जाने से मुक्त हो जाती है उस प्रकार शरीर के छूट जाने से जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार की मोक्ष के समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिये। मोक्ष तो कर्मों के सर्वथा अभाव को कहते हैं न कि देह के छूट जाने को।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥ ८९ ॥

बुभुक्षित नर अशन अर्थ, आयो जो तब पास।
आतुर हो निज न हनो, देय सुत न को मांस ॥८९॥

अर्थ :—और भोजनार्थ सन्मुख आये हुए अन्य भूखे पुरुष को देख कर अपने शरीर का मांस, दान देने की शीघ्रता में देकर अपने को भी नहीं घातना चाहिये।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदित जिनमत रहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥९०॥

जिनमत रहसि जान सुबुध, सुगर नयन को सेय।
श्रेय अहिंसा लंब के, मत मिथ्या आदेय ॥९०॥

अर्थ :—नय भंगों के जानने में प्रवीण गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्यों को जानने वाला कौनसा निर्मल बुद्धि धारी अहिंसा को धर्म जान अंगीकार करता हुआ पूर्वोक्त मतों में मूढ़ता को प्राप्त होगा।

असत्य दोष वर्णन

यदिदं प्रमाद योगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥ ९१ ॥

प्रमद कषाय जोग जो, भाषें वच विपरीत।
असत ताहि को मानिये, भेद चार हैं मीत ॥ ९१ ॥

अर्थ :—जो कुछ भी प्रमाद कषाय के योग से यह स्वपर को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप वचन बोला जाता है उसे निश्चय कर अनृत जानना चाहिये और उसके चार भेद होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वक्षेत्रकाल भावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्धयते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ६२ ॥

स्वचतुष्टकर वस्तु जो, छती करें निषेद ।
कहें 'देवदत्त है नहीं', अनृत पहलो भेद ॥ ९२ ॥

अर्थ :—जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव करके विद्यमान भी वस्तु निषेधित की जाती है वह प्रथम असत्य होता है, जैसे "यहां देवदत्त नहीं है ।"

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ ६३ ॥

पर चतुष्ट सों अछतिहू, करै जा वच परसिध ।
भेद दूसरा असत का, कह 'अस्तिघट' या विध ॥९३॥

अर्थ :—निश्चय कर जिस वचन में उन पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके अविद्यमान भी वस्तु का स्वरूप प्रगट किया जाता है वह दूसरा असत्य होता है जैसे यहां पर घड़ा है ।

वस्तु सदापि स्वरूपात् पर रूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥ ६४ ॥

स्वचतुष्ट से वस्तु जों, पर से देय बताय ।
भेद तीसरा असत का, बलधहि तुरग कहाय ॥९४॥

अर्थ :—और जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान भी पदार्थ अन्य के स्वरूप से कहा जाता है सो यह तीसरा असत्य जानना चाहिये जैसे बैल को 'घोड़ा है' ऐसे कहना ।

गर्हितमवद्यसंयुतम प्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ६५ ॥

चतु अनृत सामान्य कर, तिभेद रूप पिछान ।
वचन गर्हित अप्रिय ऊर, सावध मय प्रमान ॥९५॥

अर्थ :—और यह चौथा असत्य सामान्य रूप से (१) गर्हित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) सावद्य अर्थात् पाप सहित (३) अप्रिय तीन प्रकार माना गया है जो कि वचन रूप होता है।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितं ॥ ९६ ॥

चुगल हास्य कुश्रद्धमय, वच कठोर प्रलाप।
औरहु शास्त्र विरुध जे, ते सब गर्हित खाँप ॥९६॥

अर्थ :—दुष्टता अथवा चुगलीरूप, हास्ययुक्त, कठोर, मिथ्या श्रद्धानरूप, प्रलापरूप तथा और भी जो शास्त्र विरुद्ध वचन हैं वे सब गर्हित अर्थात् निंद्यवचन कहे गये हैं।

छेदन भेदन मारण कर्षण वाणिज्यचौर्य्य वचनादि।
तत्सावधं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

छेदन भेदन मारने, शोषण अर व्यापार।
चोरि आदि वच पापमय, सब सावद्य विचार ॥९७॥

अर्थ :—जो छेदने, भेदने, मारने, शोषने अथवा व्यापार चोरी आदि के वचन हैं सो सब पाप युक्त वचन हैं क्योंकि प्राणिहिंसा आदि के पापों की प्रवृत्ति करते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियंज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

भय अपिरीत खेद कलह, वैर शोक आताप।
ये वच अप्रिय जानिये, हौंय दुखी पर आप ॥९८॥

अर्थः—जो वचन दूसरे जीव के अप्रीति का करने वाला, भय का करने वाला, खेद का करने वाला, वैर शोक कलह का करने वाला तथा और भी आतापों का करने वाला होवे वह सब अप्रिय हैं।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्त योगैकहेतु कथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेतु प्रमाद योग ही, वचन उक्त कथनान।
यातें हिंस होय सदा, पाप असत वचनान ॥९९॥

अर्थ :—जिस कारण से इन सब ही वचनों में प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहा गया है इसलिये असत्य वचन में भी हिंसा निरन्तर होती है। अर्थात् जहां कषाय है वहां ही हिंसा है और असत्य भाषण कषाय से ही होता है!

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १०० ॥

असत वच परिभाष यहै, जुत कषाय परमाद।
हेय उपादे आदि में, यातें झूंठ न वाद ॥१००॥

अर्थ :—समस्त ही अनृत वचनों का प्रमाद सहित योग हेतु निर्दिष्ट होने से हेय उपादेयादि अनुष्ठानों का कहना झूठ नहीं होता अर्थात् अनृत वचन के त्यागी मुनि नाना प्रकार के पाप निंद्यक विषेय उपदेशते हैं जो पापियों को तीरवत अप्रिय लगते हैं, सैकड़ों जीव दुःखी होते हैं परन्तु उनको असत्य भाषण का दोष कषाय प्रमाद से युक्त वचन न होने से नहीं होता, प्रमाद युक्त अयथार्थ भाषण का नाम ही अनृत है।

भोगोपभोग साधन मात्रं सावद्यमक्षमामोक्तुम्।
येतेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥ १०१ ॥

भोग उपभोग निमित्त जे, असक सावद्य त्याग।
परिहरो शेष ही सदा, वच असत महा भाग ॥१०१॥

अर्थ :—जो जीव भोग उपभोग के साधन मात्र सावद्य वचन को छोड़ने में असमर्थ हैं वे भी शेष समस्त ही असत्य भाषण का निरन्तर ही त्याग करें।

चोरी दोष वर्णन

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्त योगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा बधस्य हेतुत्वात् ॥ १०२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदत गहें जे परिग्रह, प्रमाद योगाधीन।
वध कारण हिंसा कहें, सो ही चोरी चीन ॥१०२॥

अर्थ :—जो प्रमाद कषाय के योग से विना वितरण किये हुए सुवर्ण वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना है उसे चोरी जानना चाहिये और वही बध के हेतु से हिंसा भी है, क्योंकि चोरी करने वाले और जिसकी चोरी की गई हो उनके भाव व द्रव्य दोनों प्राणों का घात होता है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते वहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ १०३ ॥

जोहि जाकी वस्तु हरै, हरें सु ताके प्राण।
धनादिक ही लोक विषै, बाह्य प्राण परमाण ॥१०३॥

अर्थ :—जो पुरुष जिस जीव के पदार्थों का हरण करता है वह पुरुष उस जीव के प्राणों का हरण करता है, क्योंकि जगत में जो जितने धनादिक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इन सब हीं पुरुषों के बाह्य प्राण हैं।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगे द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ १०४ ॥

न अव्याप्ति, बध स्तेय में, हिंसा सुघट सुजान।
परकीय द्रव गहन में, प्रमद योग कुतान ॥१०४॥

अर्थ :—हिंसा के और चोरी के अव्याप्ति दोष यानी जो लक्षण पदार्थ के एक देश में व्याप्त होवें दूसरे में नहीं होवे सो नहीं है वह हिंसा तो सुघट कहिये भले प्रकार सब पदार्थ में है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकृत किये द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमत्त का योग है याने प्रमाद योग के बिना चोरी होती ही नहीं और जिसमें प्रमाद योग है वही हिंसा है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारण विरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥ १०५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अति व्याप्ति ना उभय में; प्रमत्त योग अभाव ।
करम ग्रहण स्तेय नहीं, वीतराग परभाव ।।१०५।।

अर्थ :—और वीतराग—अरहंत मोहनीय कर्म के अभाव होने से कर्म वर्गणाओं के ग्रहण करने में प्रमत्त योग रूप कारण का भी अभाव है। निश्चय करके चोरी के उपस्थित न होने से उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में अति व्याप्ति नहीं है क्योंकि चोरी का लक्षण प्रमाद के योग से पर द्रव्य का ग्रहण करना है।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरम् नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ।। १०६ ।।

जे असक गहण त्याग में, जलादि पर के ताल ।
जोग तिनै तजना सतत, शेष अदत सब माल ।।१०६।।

अर्थ:—जो लोग परकीय जलाशयों का जल, आदि से मट्टी आदि ग्रहण करने का त्याग करने को असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य सम्पूर्ण बिना दी हुई वस्तुओं का निरन्तर ग्रहण करना त्याग करने योग्य है।

अब्रह्म दोष कथन

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसावधस्य सर्वत्र सद्भावात् ।।१०७।।

जो वेद राग योग तें, होता मैथुन वान ।
सो अब्रह्म हिंस सकल, जिय वध का सब थान ।।१०७।।

अर्थ:—जो वेद के रागरूप योग से स्त्री पुरुषों का सहवास किया जाता है सो अब्रह्म है और उस सहवास में प्राणीवध का सब जगह सद्भाव होने से हिंसा होती है।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ।।१०८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किये मैथुन योनि विषें, बहुते जीव संहार।
तप्त लोह तिल नालिका, नष्ट करें बहु सार ॥१०८॥

अर्थः—जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोह के डालने से तिल नष्ट होते हैं—भुनते हैं, उसी प्रकार मैथुन करने से योनि में भी बहुत से जीव मरते हैं।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात् ॥१०६॥
अनंग रमणादिक करै, उत्कट काम विकार।
इनमेंहूँ हिंसा कही, रागादिक के कार ॥१०९॥

अर्थः—और इसके अतिरिक्त काम की उत्कटता से जो कुछ अनंग रमणादि याने सहवास करने के योग्य अङ्गो से भिन्न अङ्गों के द्वारा तथा तिर्यञ्चनी द्वारा जो काम क्रीड़ा की जाती है उसमें भी रागादिकों की उत्पत्ति के वश से हिंसा होती है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेष शेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥
मोही जिय जो ना करै, निज की तिय को त्याग।
तो अवश्य ही शेष सों, मत कीजे अनुराग ॥११०॥

अर्थः—जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री मात्र को छोड़ने का निश्चय करके समर्थ नहीं हैं उन्हें अवश्य ही अवशेष अन्य स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए।

परिग्रह दोष वर्णन

या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्व परिणामः ॥१११॥
निश्चय ही परिग्रह वे, मूर्छामय जो चाव।
हो मोह उदय जीव में, ममतादिक के भाव ॥१११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—यह जो मूर्छा है इसको ही निश्चय करके परिग्रह जानना चाहिये, और मोह के उदय से उत्पन्न हुये ममत्वरूप परिणाम भी मूर्छा हैं।

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥११२॥

चिन मूर्छाही परिग्रह, घटै व्याप्ति अटोक।
खलु सग्रंथ, असंगी वह, अन्तर मूर्छा थोक ॥११२॥

अर्थः—परिग्रहत्व का मूर्छा लक्षण करने से व्याप्ति—जहां लक्षण हो वहां लक्ष भी हो, भले प्रकार घटित होती है क्योंकि परिग्रह के विना भी मूर्छा करने वाला पुरुष निश्चय कर बाह्य परिग्रह संयुक्त है।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि वहिरङ्गः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

मूर्छा परिग्रह चिन तें, धर न बाह्य अभाव।
पै बाह्य संगहि निमित, सदाजु मूर्छा भाव ॥११३॥

अर्थः—यदि मूर्छा ही परिग्रह होता तो निश्चय करके बाह्य परिग्रह कोई भी नहीं होता? सो ऐसा नहीं है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्छा के निमित्तपने को निरन्तर धारण किये है। अर्थात् मूर्छा की उत्पत्ति में बाह्य धन धान्यादि पदार्थ ही कारण भूत हैं अतएव बाह्य पदार्थों में कारण में कार्य के उपचार से, परिग्रहत्व मुख्यता से सिद्ध होता ही है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नेवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अति व्याप्ति बाह्य संगहि; नाहिं लेप परमाण।
अमूर्छा करम गहण में, वीतराग भगवान ॥११४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—इस प्रकार याने बाह्य पदार्थों में द्रव्य परिग्रहत्व मान लेने से (वीतरागी पुरुषों के कार्माण वर्गणा के ग्रहण होने से) अति व्याप्ति होती है ऐसा कदाचित् कहो तो ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि कषाय रहित—वीतराग पुरुषों के कार्माण वर्गणा के ग्रहण में मूर्छा नहीं है।

अति संक्षेपाद्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

द्विविधा कह्या परिग्रह, बाह्य अन्तर नाम।
अन्तर भेद चोदह पुनि, दोबाह्य के ठाम ॥११५॥

अर्थः—वह परिग्रह अत्यन्त सङ्क्षिप्तता से अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार होता है और पहिला अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार तथा दूसरा बहिरंग परिग्रह दो प्रकार होता है।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

हास्यादिक षट दोष पुनि, तीन वेद के राग।
चतु कषाय मिथ्यात्व ये, गण अन्तर के भाग ॥११६॥

अर्थः—हास्य[१], रति[२], अरति[३], शोक[४], भय[५], जुगुप्सा[६] ये छः दोष, स्त्री[७], पुरुष[८], और नपुंसक[९] वेद के राग, क्रोध[१०], मान[११], माया[१२], लोभ[१३] अथवा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलनी ये कषाय भाव तथा मिथ्यात्व[१४] इस प्रकार उक्त अन्तरंग के चौदह परिग्रह हैं।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ
नेषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसां ॥११७॥

अचित सचित दो रूप में, गण सब बाह्य चाल
लेशहु हिन्सा रहित ना, संग इम सदा काल ॥११७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—इसके अनन्तर वहिरङ्ग परिग्रह के अचित कहिये सोना चांदी, मठ, मकान वस्त्रादिक तथा सचित कहिये पुत्र, कलत्र, दासी दास, प्रमुख सचेतन पदार्थ में दो भेद हैं, ये समस्त ही परिग्रह कदापि काल किसी भी प्रकार हिंसा रहित नहीं हैं।

उभय परिग्रहवर्ज्जनाभचार्य्याः सूचयन्त्यहिंसेति
द्विविध परिग्रहवहनं हिंसेति जिने प्रवचनज्ञाः ॥११८॥

कँह हिंस जिन वच मरमी, उभय संग आचार
दोन त्याग में वे कहें, सब अहिंस सुखकार ॥११८॥

अर्थः—जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य गण दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को अहिंसा ऐसे और दोनों प्रकार के परिग्रह के आचरण को हिंसा ऐसा सूचित करते हैं।

हिंसापर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसंङ्गेषु
वहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥११६॥

अन्तर में हिन्स सिध है, हिंस रूप परयाय
ममत्व परिणाम ही में, हिंस वाह्य कहाय ॥११९॥

अर्थः—हिंसा के पर्याय रूप होने के अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है, और वहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं। (केवली तीर्थंकर के समवशरण विभूति ममत्व रहित होने से परिग्रह नहीं है।)

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम्
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छा विशेषेण ॥१२०॥

वाहि ममत्व ही मूर्छा, फरक न हरिण विलाव
पै ऐसो दीखै नहीं, विशिष्ट ममत्व भाव ॥१२०॥

अर्थः—यदि वहिरंग में ममत्व परिणाम का नाम ही मूर्छा है तो बिल्ली तथा हरिण के बच्चे आदिकों में कुछ विशेषता फर्क न होवे सो ऐसा नहीं होता, क्योंकि ममत्व परिणामों की विशेषता से उन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विलाव तथा हरिण शावक प्रमुख जीवों की विशेषता है। अर्थात् समानता नहीं है।

हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्छा
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

मृग ममत्व मंद रहे, हरित तृण को खाय
सो हिंसा, मार चूहे, पै बिलाव अधिकाय ॥१२१॥

अर्थः—हरे घास के अंकुर चरने वाले हरिण के बच्चे में मूर्छा मन्द होती है, क्योंकि वह उसकी विशेष शोध में नहीं रहता है और जब घास मिल भी जाती है तो थोड़े से ही आहट से भाग जाता है, परन्तु वही हिंसा चूहों के समूह का उन्मथन करने वाले विलाव में तीव्र होती है, क्योंकि वह खाद्य की खोज में स्वभाव से ही अधिक चेष्टित रहता है और खाद्य प्राप्त होने पर इतनी अनुरक्तता है कि सिर पर लट्ठ पड़ जावें तो भी नहीं छोड़ता; अतएव ममत्व परिणामों की विशेषता से ही परिग्रह है।

निर्वाधं संसिद्धयेत्कार्य विशेषो हि कारण विशेषात्
औधस्यखण्डयो रिह माधुर्य्ये प्रीतिभेद इव ॥१२२॥

कारण विशेष काज भी, अबाध सिद्ध दिखात
माधुरता रुचि भेद ज्यों, खांड दूध की भांत ॥१२२॥

अर्थः—दूध और खांड में मधुरता के कारण रुचि में भेद होने के समान इस लोक में निश्चय कर कारण की विशेषता से कार्य भी विशेष रूप बाधा रहित भले प्रकार सिद्ध होता है।

माधुर्य्य प्रीति, किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्य्ये
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

निचय अलप मिष्ट पय में, कहे मिष्ट-रुचि मंद
सो रुचि-मिठास धरै बहु, कहे अधिकाए कन्द ॥१२३॥

अर्थः—निश्चय कर अल्प मिठास वाले दूध में मिठास की रुचि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोड़ी ही कही जाती है और वही मिठास की रुचि अत्यन्त मिठास वाली कन्द-खांड़ में अधिक कही जाती है। इसी प्रकार परिग्रहों का अल्परुचिकर और विशेष रुचिकर कारण पाकर अन्तरंग परिणाम होते हैं। बहुत आरम्भ परिग्रह व्यापार होता है तो ममत्व भी अधिक होता है, और जो परिग्रह अल्प होता है तो ममत्व भी अल्प होता है। हां किसो २ पुरुष के अल्प परिग्रह के होते हुए भी अभिलाषा रूप ममत्व भाव अधिक होते हैं परन्तु इससें आगामी काल में होने वाले बाह्य परिग्रह का संकल्प कारण भूत समझना चाहिए परन्तु कोई परिग्रह अंगीकार करता जावे और कहे मेरे अंतरंग में ममत्व भाव नहीं सो झूठ है। अतएव ममत्व परिहार के लिये बाह्य परिग्रह त्यागना भी योग्य है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने नियुक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथम कषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥

तत्वार्थ अश्रद्धान में, मूल मिथ्यात विचार
पुनि सम्यग दरशन चोर, कषा अनन्ती चार ॥१२४॥

अर्थः—पहिले ही सम्यक्त्व अंगीकार होने में तत्त्व के अर्थ के श्रद्धान में दोष करने वाला मिथ्यात्व है और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये ४ कषाय सम्यग्दर्शन के चोर हैं।

प्रविहाय च द्वितीयान् देश चरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देश चरित्रं निरुन्धन्ति ॥ १२५ ॥

तज अप्रत्याख्यान आय, देश चारित सन्मुख।
एकोदेशहि वे कषाय, करहैं सदाज्ञु विमुख ॥१२५॥

अर्थः—और दूसरे कषाय अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड़कर देश चारित्र (श्रावक धर्म) के सम्मुख आता है, क्योंकि वे कषाय निरन्तर एकोदेश चारित्र को रोकते हैं।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्ग सङ्गानाम्।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादि भावनया ॥ १२६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार मारदव शौंचादि, निज बल अखिल लगाय ।
शेष संग सब त्यागिये, मुनिपद को सुखदाय ॥१२६॥

अर्थ—अतएव अपनी शक्ति से मार्दव शौचादि दशलाक्षणिक धर्मों के द्वारा अवशेष सम्पूर्ण अंतरंग परिग्रहों का त्याग करना चाहिए। अर्थात् प्रत्याख्यानावरणी चतु कषाय सकल संयम को रोकते हैं।

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥
सचित वा अचित सब संग तजहु बाह्य के भेद ।
इने भी यातें कह्या, करें असंयम खेद ॥१२७॥

अर्थः—तथा उस बाह्य परिग्रह को चाहे वह अचित्त हो अथवा सचित्त हो, सम्पूर्ण ही छोड़ देना चाहिये क्योंकि बहिरंग परिग्रह से भी अयोग्य अथवा निंद्य असंयम होता है।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तु वित्तादिः ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्ति रूपं यतस्तत्त्वम् ॥ १२८ ॥
जो धन धान्य दुपद गृह, वितादि को अनुराग ।
सकें न तज, पै कर नून ; तत्व निवृत सुभाग ॥१२८॥

अर्थः—और जो पुरुष धन धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदादिक छोड़ने को समर्थ नहीं है, उसे भी जहां तक हो सके परिग्रह को न्यून करना चाहिए, क्योंकि त्याग रूप ही तत्त्व-वस्तु का स्वरूप है।

रात्रि भोजन दोष वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्माद् निवारिता भवति हिंसा ।
हिंसा विरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥
निशि में भोजन जे करें, हिंसा हो अनिवार ।
है अनोचित त्यागी को, असन रात्रि लगार ॥१२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—इसलिए कि, रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित होती है अतएव हिंसा के त्यागी को रात्रि को भोजन करना भी त्याग करना चाहिए।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥ १३० ॥

उत्कट रागादिक जाहि, करै न हिंस अभाव।
सोहि हिंसा किम न भवै, निशि दिन अशनहि भाव ॥१३०॥

अर्थः—अत्याग भाव रागादिक भावों के उदय की उत्कृष्टता से हिंसा को उल्लङ्घन करके नहीं वर्तते हैं तो रात्रि को और दिन को आहार करने वालों के निश्चय कर हिंसा कैसे संभव नहीं होती? अर्थात् तीव्र रागी ही रात्रि दिन खावेगा और जहां राग है, वहां हिंसा है ही।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥ १३१ ॥

सदा खान हिंसा कही, दिवस अशन परिहार।
रात अशन जो कीजिए, टले हिंस सब कार ॥१३१॥

अर्थ :—रात्रि भोजी जीव, यह जान कर कि रात तथा दिन में भोजन करने से सदा ही तीव्र राग से हिंसा होती है, जानकर कहता है यदि ऐसा है तो दिन के भोजन का त्याग करना चाहिए और रात्रि में भोजन करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार से हिंसा सदा काल नहीं होगी। (उसको इसमें आगे दोष बताते हैं।)

नैवं वासरभुक्तः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तः भुक्ता विव मांस कवलस्य ॥ १३२ ॥

अन्न ग्रास के राग सों, राग मांस अधिकाय।
त्यों निशि में दिव अशन तें, रागहि अधिका थाय ॥१३२॥

अर्थ :—[उदर भरण की अपेक्षा सब प्रकार के भोजन समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है परन्तु] अन्न के ग्रास के भोजन से मांस के ग्रास के भोजन में जैसे राग अधिक होता है वैसे ही दिन के भोजन से रात्रि भोजन में निश्चय कर अधिक राग होता है अतएव रात्रि भोजन ही त्याज्य है।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसां।
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३ ॥

दीपहि जोय करै अशन, बिन रवि के आलोक।
भोजन सने मरें सदा, सूछम जन्तू थोक ॥१३३॥

अर्थ :—सूर्य के प्रकाश के विना रात्रि में भोजन करने वाले पुरुषों के जलाए हुए दीपक में भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जंतुओं की हिंसा को किस प्रकार दूर किया जा सकेगा ? अतएव रात्रि भोजन प्रत्यक्ष हिंसा है।

किं वा वहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनो वचन कायैः।
परिहरति रात्रि भुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥ १३४ ॥

बहुत कथन ते कछु नहीं, सदा अहिंस अपार।
मन वच तन से निशि असन, तजना ही है सार ॥१३४॥

अर्थ :—अथवा वहुत प्रलाप से क्या ? जो पुरुष मन, वचन और काय से रात्रि भोजन को त्याग देता है वह निरन्तर अहिंसा को पालन करता है ऐसा सार कहिये सिद्धांत हुआ।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥ १३५ ॥

पथ त्रयात्मक मुकत में, निज हित वांछक जीव।
कर सतत जतन या भुवी, जावें मुकत सदीव ॥१३५॥

अर्थ :—इस प्रकार जैसा कि ऊपर बताया गया है उसके अनुसार इस लोक में जो अपने हित के वांछक मोक्ष के रत्नत्रयात्मक (तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, विशेष परिज्ञान रूप समयग्ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और हिंसा वर्ज्जन रूप सम्यकचरित्र रूप) मार्ग में सर्वदा प्रयत्न करते हैं वे पुरुष मुक्ति को शीघ्र ही गमन करते हैं।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥ १३६ ॥

कोट नगर की रछ्छ करै, त्योंहि अणुव्रत काज ।
सात शील नित पालिये, हो रच्छा व्रतराज ॥१३६॥

अर्थः—निश्चय करके नगरों के परिधियों—कोटों की तरह तीन गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दंडव्रत) और चार शिक्षा व्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग) ये सप्त शील पांचों अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, अतएव व्रतों की रक्षा-पालन करने के लिये शील व्रतों को भी पालन करना चाहिये।

दिग्व्रत स्वरूप

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥ १३७ ॥

गमन मरजाद थांभिये, मुख गिरि गांव तड़ाग ।
दिश विदिशहु सब ठौर में, यावत जिय बड़ भाग ॥१३७॥

अर्थः—अत्यन्त प्रसिद्ध ग्राम पर्वत ताल-नदी आदि नाना ठिकानों से सब ओर दशों दिशाओं में पाप कार्य के लिये जाने की मर्यादा को करके गमन करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

इति नियमित दिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्यः ।
सकला संयम विरहाद्भवत्य हिंसां व्रतं पूर्णम् ॥ १३८ ॥

जो मरजादा इम धरै, असंयम नहि बहार ।
तसु अहिंसा वरत सकल, बहिर अहिंस परिहार ॥१३८॥

अर्थः—जो इस प्रकार मर्यादा कृत दिशाओं के भाग में वर्ताव करता है उस पुरुष के उस क्षेत्र से बाहर समस्त ही असंयम के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग के कारण परिपूर्ण अहिंसाव्रत होता है अर्थात् मर्यादा के बाहर के क्षेत्र के समस्त त्रस स्थावरों के घात का निषेध हो जाने से महाव्रत रूप उस क्षेत्र के हेतु कहा जाता है।

देशव्रत वर्णन

तत्रापि च परिमाण ग्रामापणभवन पाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियत कालं करणीयं विरमणं देशात्॥ १३९ ॥

अर ता दिग-विरतहू में, वरत देश आचार।
गांव वीथि मठ सीमकर, नियत काल को धार ॥१३९॥

अर्थः—और उस दिग्व्रत में भी ग्राम, वाजार, मंदिर, मुहल्लादिकों का परिमाण करके मर्यादा कृत क्षेत्र से वाहर पाप कार्य के लिये किसी नियत समय पर्यन्त त्याग करना चाहियें इसे देशव्रत कहते हैं, दिग्व्रत व देशव्रत में इतना ही अन्तर है कि दिग्व्रत में सदा काल-यावज्जीव और देशव्रत में घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मांस, वर्ष आदि काल की मर्यादा की जाती है तथा दिग्व्रत में जितने क्षेत्र की मर्यादा की जाती है, देशव्रत में उसके मध्यवर्ती थोड़े क्षेत्र की प्रतिज्ञा की जाती है।

इति विरतो बहु देशात् तदुत्थ हिंसा विशेष परिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण॥ १४०॥

बहु छेत नियत काल को, त्यागे हिंस विशेष।
सो सुबुध अहिंसा धरै, बाहिर गमन निषेध ॥१४०॥

अर्थः—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्यागी निर्मल बुद्धि वाला श्रावक उस नियमित काल में मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न हुई हिंसा विशेष के परिहार से विशेषता से अहिंसाव्रत को अपने आश्रय करता है अर्थात् दिग्व्रत में हिंसा का त्याग है, उसी प्रकार देशव्रत में विशेष हिंसा का त्याग है—यह अन्तर है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपध्यान नाम अनर्थ दण्डव्रत

पापर्द्धिजय पराजय सङ्गरपरदार गमन चौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पाप फलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

जय पराजय चोरी युध, पर तिय गमन शिकार ।
इन आदिक ना चिन्तियो, ध्यान दुखद दुखकार ॥१४१॥

अर्थः—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिक किसी समय भी नहीं चिंतवन करना चाहिये, क्योंकि इन अपध्यानों का केवल पाप ही फल है, यहाँ तीसरे अनर्थ दण्डव्रत का वर्णन है, विना प्रयोजन पाप करने को अनर्थ दण्ड कहते हैं इसके ५ भेद (१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमादचर्या (४) हिंसा दान (५) दुशश्रुति हैं। जिसमें उक्त प्रथम कहा है।

पापोदेश नाम अनर्थ दंडव्रत

विद्यावाणिज्यमषीकृषि सेवाशिल्प जीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

मषि विद्या वनिज कृषी, सेव शिल्प सब कार ।
नेकहु ना उपदेशिये, पाप वचन किहकार ॥१४२॥

अर्थः—लेखनकला, विद्या—ज्योतिष, वैद्यक सामुद्रिकादिविद्या वनिज—पशुपालनादि व्यापार, खेती, नौकरी और कारीगरी से जीविका करने वाले पुरुषों को पाप के उपदेशदाता वचन किसी समय भी नहीं बोलना चाहिए, इससे आपको कुछ लाभ नहीं होता, केवल पाप बंध होता है।

प्रमाद चर्या नामक अनर्थ दण्डव्रत

भूखनन वृक्ष मोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपिच ॥१४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूव रौन्द भू खनन पुनि, जल सिञ्च तरु उपार ।
पत्र फूल फल तोड़ना, निष्कारण परिहार ॥१४३॥

अर्थः—अतिशय घास वाली (दूब की) जमीन रौंदना, वृक्षों को उखाड़ना, पृथ्वी खोदना, पानी सींचना आदि और पत्र फूल फलादिक भी प्रयोजन के विना तोड़ना उचित नहीं है।

हिंसा प्रदान नाम अनर्थ दण्डव्रत

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

मुदगर विष धनु हलादिक, छुरी अगिन तलवार ।
कुउपकरण ना दीजिये, कहे हिंस करतार ॥१४४॥

अर्थः—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुषादि हिंसा के उपकरणों का वितरण—दूसरों को देना यत्न से छोड़ देना योग्य है इनके विना स्वयं का काम न चले तो आप तो रख लेवें परन्तु ये साधन—हिंसा के निमित्त दूसरों को कभी न देवें, इसके अलावा स्वान, बिल्ली आदि हिंसक जीवों का पालना भी इस अनर्थदंडव्रत के भेद में गर्भित समझना चाहिये।

दुः श्रुत नाम अनर्थदंडव्रत

रागादिवर्द्धनानां दुष्ट कथा नाम बोधबहुला नाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जन शिक्षणादीनि ॥ १४५ ॥

रागादि वरंधक दुकथा, युत अज्ञान प्रलाप ।
श्रवण अर्जन सीखना, करो न नेंक कदाप ॥१४५॥

अर्थः—राग द्वेष मोहादि को वृद्धिगत करने वाली तथा बहुत करके अज्ञानता से भरी हुई दुष्ट कथाओं—कोकादि कुशास्त्र के उद्दीपन करने वाले हैं तथा हिंसा के प्रवर्तक हैं अतएव दुष्ट हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके ग्रंथों को सुनना, संग्रह करना, सीखना आदिक किसी भी समय नहीं करना चाहिये।

द्यूत दोष वर्णन

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परि हरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥ १४६ ॥

मायागृह शौच मथक, सत व्यसन मुख भान।
जूआ दूरहि छांड़िये, चौरि असत का थान ॥१४६॥

अर्थः—सप्त व्यसनों का प्रथम याने सम्पूर्ण अनर्थों का मुखिया संतोष का नाश करने वाला, मायाचार का घर और चोरी तथा असत्य का स्थान जुआ दूर से ही त्याग कर देना चाहिये।

एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थं दण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७ ॥

तजै अनरथ दंड सकल, जान भेद बहु सार।
अहिंसा वरत तासु के, वढ़ै सदा अविकार ॥१४७॥

अर्थ :—जो पुरुष इस प्रकार अन्य भी अनरथ दंडों को जान करके त्याग करता है, उसके निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय प्राप्त करता है।

सामायिक वर्णन

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥

राग द्वेष त्याग द्रवन, साम्यभाव अनुकार।
मूल तत्त्व निज लाभ का, सामायिक वरधार ॥१४८॥

अर्थ :—राग द्वेष के त्याग से समस्त पदार्थों में इष्ट अनिष्ट का त्याग ऐसे साम्यभाव को अंगीकार कर वारम्वार आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण सामायिक करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥ १४९ ॥

सो अविचल अवश्य करो, दिवा रात के अन्त ।
करे पुनि, ना दोष शमन, पै गुण वढ़न भदन्त ॥१४९॥

अर्थः—वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त में याने प्रातः काल और संध्याकाल में एकाग्रता पूर्वक अवश्यमेव करना चाहिये, फिर इसके अतिरिक्त यदि अन्य समय में और किया जावे तो, वह सामायिक कार्य दोष के हेतु नहीं किन्तु गुणों की वृद्धि ही को बढ़ाने वाला होता है ।

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोग परिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्र मोहस्य ॥१५०॥

साम्य भाव श्रावक धरैं, सकल पाप परिहार ।
चरित्त मोह उदय जदपि, मुनि संज्ञा सुखकार ॥१५०॥

अर्थः—इन सामयिक दशा को प्राप्त हुए श्रावकों के चारित्र मोह के उदय होते भी समस्त पाप के योगों के परिहार से महाव्रत होता है ।

उपवास वर्णन

सामायिक संस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

नित साम्य संस्कार लियो, ताही थिरता आस ।
पक्ष अरध भागहि दिवस, अवश करो उपवास ॥१५१॥

अर्थः—प्रति दिन अङ्गीकार किए हुए सामायिक रूप संस्कार को स्थिर करने के लिये पक्षों के अर्द्धभाग—अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिये ।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिन पूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वम पहाय देहादौ ॥१५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपवास दिन पूरब अघ, सब आरंभहि छाँड़ ।
ममत्व तनादि टार के, प्रोषध लेवै माड़ ॥१५२॥

अर्थः—उपवास के दिन के पूर्व दिन के मध्य में समस्त आरम्भ से मुक्त होकर शरीरादिक में आत्मबुद्धि को त्यागकर उपवास को अङ्गीकार करै ।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थाविरतः कायमनोवचन गुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

पुनि तज सब सावध योग, जाये निरजन थान ।
इन्द्री विषय विरक्त थिर, धरो तिगुपत महान ॥१५३॥

अर्थः—पश्चात निर्जनवस्तिका—एकान्त स्थान को प्राप्त होकर सम्पूर्ण सावद्य योग कहिये अपध्यान, अपकथन, अपचेष्टारूप सावद्य क्रिया त्यागकर (याने इस प्रकार प्रतिज्ञा करे कि मैं अब सम्पूर्ण पाप योगों का त्यागी होता हूँ) और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर मनगुप्ति—मन से पाप का विकल्प न करना और यदि करना तो धर्मरूप करना, वचन गुप्ति—मौनावलम्बी रहना अथवा धर्मरूप थोड़ा बोलना, और कायगुप्ति—शरीर निश्चल रखना, यदि कुछ चेष्टा करनी हो; तो प्रमाणानुकूल क्षेत्र में धर्मरूप करनी, इस प्रकार त्रिगुप्ति में स्थित होवे ।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमति वाह्य विहित सान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्याय जितनिद्रः ॥१५४॥

कर साम्य उभै दिन विता, धरम ध्यान में लीन ।
निद्रा तज पठ पाठ से, निशि साँथर अमलीन ॥१५४॥

अर्थः—कर ली गई है प्रातः काल और संध्या कालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे दिन को धर्म ध्यान में आशक्तता पूर्वक व्यतीत करके पठन पाठन से निद्रा को जीतता हुआ पवित्र संथारे पर रात्रि को गमावे—पूर्ण करे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्राशुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

पुनि भोर उठ कर किरिया, समय प्रात की जोय ।
यथोक्त प्रासुक द्रव ले, पूजो जिनवर लोय ॥१५५॥

अर्थ :—तदुपरांत प्रभात ही उठकर प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियासमूहों को करके प्राशुक-जीवरहित द्रव्यों से आर्ष ग्रन्थों में जिस प्रकार कही गई है उस प्रकार से जिनेश्वर देव की पूजा करें ।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितिय रात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नदर्द्धं च तृतीय दिवसस्य ॥१५६॥

या विधि दिवा विताय के, औरहु दूजी रात ।
पुनि तीजे दिन आध को, विताय जतना तात ॥१५६॥

अर्थः—इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से उपवास के दिन को और दूसरी रात्रि को प्राप्त होके फिर तीसरे दिन के आधे को भी अतिशय यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करें ।

इति यः षोड़शयामान् गमयति परिमुक्त सकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रत भवति ॥ १५७ ॥

यो षोड़श पहर विताय, तज पापहि सब काम ।
तस तसु काल निचय होय, सत अहिंस अभिराम ॥१५७॥

अर्थः—जो जीव इस प्रकार सम्पूर्ण पाप क्रियाओं से परिमुक्त होकर सोलह प्रहरों को गमाता है अर्थात् व्यतीत करता है उसके उतने समय तक निश्चय पूर्वक सम्पूर्ण अहिंसाव्रत होता है ।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवोत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोग विरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
ना ब्रह्मा मैथुनरुचः सङ्गो नाङ्गेप्य मूर्छस्य ॥ १५६ ॥ (युग्मम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोग उपभोगहि हेतु, हिंस देश आगार।
पै त्यागे उपवास में, ताहि न लेश लगार ॥१५८॥
असत ना वागगुपतितें न अविराम मिथुन त्याग।
तज अदतादान स्तेय न, असंग न तनहि राग ॥१५९॥

अर्थः—निश्चय करके इन देशव्रती श्रावकों के भोगोपभोग के हेतु से स्थावर जीवों की हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुष के भोग उपभोग के त्याग से लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है क्योंकि वचन गुप्ति होने से झूठ वचन नहीं है, मैथुन को छोड़ देने से अब्रह्म नहीं है, सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से चोरी नहीं है और शरीर में निर्ममत्व के होने से परिग्रह भी नहीं है, अर्थात् उपवास में पूर्ण अहिंसाव्रत की पालना होने के अतिरिक्त अवशेष—बाकी के चारों व्रत (अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह त्यागव्रत) भी स्वयमेव पलते हैं।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयम स्थानम् ॥ १६० ॥

यों तज विरतो हिंस सब, मुनि व्रती उपचार।
पै चारित्त मोह उदय, होय न पाँचहि पार ॥१६०॥

अर्थः—इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओं से रहित वह प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष उपचार से—व्यवहारनय से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है परन्तु चारित्र मोह के उदयरूप होने के कारण संयम के स्थान अर्थात् पंचम गुण स्थान को लांघकर प्रमत्त गुण स्थान को नहीं पाता है, याने महाव्रती के समान कह सकते हैं।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥ १६१ ॥

कुहिंस भोगोपभोगहि, होय न पंचम थान।
पर तजने जोग है, वस्तु रूप वल मान ॥१६१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—देशव्रती श्रावक के भोग और उपभोगों के निमित्त से होने वाली हिंसा अन्य प्रकार से नहीं होती है, अतएव वे दोनों अर्थात् भोग उपभोग भी वस्तु स्वरूप को और अपनी शक्ति को प्राप्त होकर अर्थात् शक्त्यानुसार छोड़ने योग्य हैं, याने वस्तु स्वरूप जानना भी जरूरी है क्योंकि कौन सी वस्तु अधिक पाप करने वाली और कौन सी कम, यह जानने के पश्चात अपनी सामर्थ्य का विचार व अनुमान करके तदनुकूल भोगोपभोग का त्याग करना चाहिये।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम।
करणीयम शेषाणां परिहरणमनन्त कायानाम्॥ १६२॥
देह इक साधारण चह, जीव अनन्ता घात।
यातें काय अनन्त जे, जजिये सवहि निपात॥१६२॥

अर्थः—क्योंकि एक साधारण देह कन्दमूलादिक को भी घातने की इच्छा करने वाला पुरुष अनन्त जीवों को मारता है अतएव संपूर्ण ही अनन्त कायों का परित्याग अवश्य ही करना चाहिये।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधियते किञ्चित्॥ १६३॥
वहु जीव योनि थान है, त्याग करो नवनीति।
और वस्तु अखद सवहू, पिण्ड शुद्धि में मीत॥१६३॥

अर्थः—और बहुत जीवों का उत्पत्तिस्थानरूप नवनीत-मक्खन त्याग करने योग्य है, अथवा आहार की शुद्धता में जो कुछ वस्तु विरुद्ध कही गइ है वह भी त्याग करने योग्य है जैसे चर्म स्पर्शित घृत, तेल, जल, हींग, मर्यादा बाहर दूध, दही, मिष्ठान्न, बिना छाना जल, अनजान फल, घुना अन्न, बाजारू आटा, मुरब्बा, चिदल आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोप भोग्यतया ॥ १६४ ॥

योग भोगहु त्यागिये, निज बल सुबुध विचार ।
जो असक्त तोहू तजों, धर मर्यादा कार ॥१६४॥

अर्थः—बुद्धिमान पुरुष हो करके अपनी शक्ति को देखकर अविरुद्ध पदानुकूल भोग भी त्याग देने योग्य हैं और जो उचित भोगोपभोगों के त्याग न हो सकें तो उनमें भी एक दिन रात की उपयोग्यता से मर्यादा करना चाहिये अर्थात् यम रूप त्याग न हो सके तो नियम रूप तो अवश्य करें।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालि कीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तर सीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥ १६५ ॥

पुनि कीनी मरयादहू सोच सकति तत्कार ।
भोग, विषय परिमाण में, उपसीमा नितधार ॥१६५॥

अर्थ :—प्रथम की हुई सीमा में फिर भी विद्यमान समय की अपनी शक्ति का विचार करके प्रतिदिन अन्तर सीमा-उपसीमा अर्थात सीमा में भी थोड़ी सीमा करने योग्य है।

इति यः परिमितिभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतर हिंसा विरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥ १६६ ॥

इविध परिमित भोग तुष्ट, वह हिंसा को गार ।
वर अहिंस धेरे श्रावक, छाँड़ भोग वहु सार ॥१६६॥

अर्थ :—जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादा रूप भोगों से तृप्त होकर अधिकतर भोगों को छोड़ देता है, उसका बहुत हिंसा के त्याग से उत्तम अहिंसा व्रत होता है, याने अहिंसा व्रत का उत्कर्ष होता है।

अतिथि संविभाग

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जात रूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥ १६७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि देय वस्तु देय सब, अतिथि दिगम्बर जात ।
स्व पर अनुग्रह हेतहि, गृही गुणा सब दात ॥१६७॥

अर्थः—दाता के गुण युक्त ग्रहस्थ करके दिगम्बर-पात्र के उत्तम गुणों से युक्त अतिथि—जो नियमित तिथि को नहीं आते ऐसे अभ्यागत के लिये अपने स्वयं तथा पर कहिये दूसरे के अनुग्रह—उपकार के हेतु विशेष द्रव्य—देने योग्य वस्तु का भाग-दान विधि पूर्वक अवश्य ही कर्त्तव्य है।

नवधा भक्ति

सङ्ग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

सादर ले जाय[१] बिठाय धोय चरण[३] अरचान[४] ।
नमनकर[५] चतु[६-९]शुद्धिकहैं, विधि नव भक्ति महान ॥१६८॥

अर्थः—प्रतिग्रहण-सत्कार पूर्वक अपने गृह में अतिथि का प्रवेश कराना, ऊँचा स्थान देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, काय शुद्धि, मन से वचन से तथा काय से ऐसा विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनिराज के लिए लगाया है परन्तु मैंने अपने स्वयं के हेतु लगाया है इससे अन्न जल शुद्ध है। ऐलक छुल्लक आदि पंचम गुणस्थान वर्ती जीवों की पूजा छोड़कर भक्ति करनी चाहिये तथा भोजन शुद्धि इस प्रकार नवधा भक्ति रूप विधि को आचार्य गण कहते हैं।

दातार के गुण

ऐहिक फलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमितिहि दातृगुणाः ॥१६९॥

क्षमाधर फलाशाबिन, निष्कपटी अनुसूय ।
मुदित अखिन्न मान रहित, दातागुण ये पूय ॥१६९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—इस लोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा रहितता, क्षमा, निष्कपटता, ईर्षारहितता, अखिन्नभाव, हर्षभाव और निरभिमानता इस प्रकार ये सात निश्चय करके दाता के गुण हैं।

द्रव्य लक्षण

रागद्वेषासंयममदद्‌दुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम ॥१७०॥

राग दोष भय असंयम, करे न दुख मदाद।
तप स्वाध्याय वृद्धि करै, द्रव्य रहित परमाद ॥१७०॥

अर्थः—जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख भय आदिक नहीं करता है, वह उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला द्रव्य ही देने योग्य है।

पात्र स्वरूप

पात्रं त्रिभेद मुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकल विरतश्च ॥१७१॥

मोक्ष कारण गुण सहित, पात्र तिभेद जान।
महावरती अनुव्रती, विनवरतहु पहिंचान ॥१७१॥

अर्थः—मोक्ष के कारण रूप के गुणों का—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र रूप गुणों का संयोग जिसमें हो, ऐसा पात्र समूह अविरत सम्यग्दृष्टी, देशव्रती, तथा महाव्रती तीन भेद रूप कहे हैं।

हिंसायाः पर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते य तो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

हिंसा पर्यायी लोभ, होय नाश इस दान।
अतिथि दान तातें कहा, हिन्सहि त्याग सुजान ॥१७२॥

अर्थः—क्योंकि इस दान में हिंसा का पर्यायी लोभ नाश किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है, अतएव अतिथिदान हिंसा का त्याग ही कहा गया है अर्थात् दान में लोभ का त्याग होने से हिंसा का भी त्याग सिद्ध होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीड़यते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

घर आये धर मधुवृति, पीड़ें न पर महान।
लोभवानहि गृही वह, देय न उनको दान ॥१७३॥

अर्थ :—जो गृहस्थ घर पर आये हुए संयमादि गुण युक्त और भ्रमर के समान वृत्ति से दूसरों को पीड़ा न देने वाले अतिथि-साधु को भोजनादिक नहीं देता है वह लोभी कैसे नहीं है ? अर्थात् है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

खेद अरति तज, भावसों, किया अशन निज काज।
मुनिन देय लोभ मथक, होय अहिंस सुराज ॥१७४॥

अर्थ :—अपने लिये बनाए हुये भोजन को मुनि के लिये देवै, इस प्रकार भावपूर्वक अप्रेम और विषाद से रहित तथा लोभ को शिथिल करने वाला दान अहिंसा स्वरूप ही होता है।

सल्लेखना धर्मव्याख्यानमाह

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुं।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्य न समरथ धर्मधन, जो ले जावें साथ।
अन्त सलेखना हो इक, यों भावोगुणगाथ ॥१७५॥

अर्थ :—यह एक ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को समर्थ है। इस प्रकार भक्ति करके मरणांत सल्लेखना निरन्तर भावना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावना परिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥
सुध समाधि धरूँगा ही, अन्त काल के माँहि ।
वरत संलेखन पालिये, पूरव भावन आँहि ॥१७६॥

अर्थ :—मैं मरण काल में अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से समाधि-मरण करूँगा, इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरण काल प्राप्त होने के पहिले ही यह सल्लेखना व्रत पालना चाहिये ।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषाय सल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥
भावी मरण नित होते जे कषा कृश कार ।
रागादि अभाव वशतें, घात न आत्म विचार ॥१७७॥

अर्थ :—अवश्य ही होनहार मरण के होते हुए कषाय सल्लेखना के कृषीकरण मात्र व्यापार में प्रवर्त्तमान पुरुष के रागादिक भावों के असद्भाव में आत्मघात नहीं है, अर्थात् अन्त काल का निश्चित करके धर्म की रक्षार्थ संन्यास धारण करना आत्मघात नहीं है ।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥ १७८ ॥
पानी कुम्भक विष आग, शस्त्रादिक भूपात ।
प्राण पृथक कषाय सों, करें सों आत्मघात ॥१७८॥

अर्थ :—निश्चय करके क्रोधादि कषायों से आवेष्टित जो पुरुष स्वांस निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिकों से अपने प्राणों को पृथक् कर देता है, उसके आत्मघात सचमुच होता है ।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसां प्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥
हिंसा हेतुकषाय जे, होंय छीन संन्यास ।
तातें अहिंसा सिद्धि को, कह्यो सुगुरु सुतास ॥१७९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—क्योंकि इस संन्यास मरण में हिंसा के हेतुभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त होते हैं, तिस कारण से संन्यास को भी श्रीगुरु अहिंसा की सिद्धि के लिये कहते हैं।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकल शीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

या विध व्रत रक्षा हेतु, सतत शील आचार।
शिवश्री उत्सुक हो वरे, ज्यों कन्या भरतार ॥१८०॥

अर्थ :—जो इस प्रकार पंचाणुव्रतों की रक्षा के लिये समस्त शीलों (३ गुण व्रत, ४ शिक्षा व्रत, १ अंत सल्लेखना) को निरन्तर पालता है, उस पुरुष को मोक्षपद की लक्ष्मी अतिशय उत्कण्ठित स्वयंवर की कन्या के समान स्वयं ही वरण करती है, अर्थात् प्राप्त होती है।

सम्यक्त्व, व्रत, शीलों के अतिचार

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदित शुद्धिप्रतिबान्धनो हेयः ॥१८१॥

सम्यक्त्व व्रत शील के, पाँच पाँच अतिचार।
सतर शुद्धि रोकें यथा, तजने में है सार ॥१८१॥

अर्थ :—सम्यक्त्व में, व्रतों में और शीलों में पाँच-पाँच इस क्रम से ये सत्तर जो आगे कहे जाते हैं, यथार्थ शुद्धिता के रोकने वाले अतिचार—शिथिलता कारक दोष त्याग करने योग्य हैं।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

शंका वान्छा ग्लानि अरु, मूढ़ दृष्टि प्रशंस।
पुनि थुति ना मन से धरो, ये सम्यक के कंस ॥१८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—संदेह, वांछा, ग्लानि, वैसे ही मिथ्या दृष्टियों की स्तुति और मन से उन मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा करना ये सम्यक्त के पाँच अतिचार हैं।

अहिंसा व्रत के पांच अतिचार

छेदन ताड़न बन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिन्सात्रतस्येति ॥१८३॥

छेदन, ताड़न, बांधना, अतिशय धरै जु बोझ।
अन्नपान का रोकना, है अहिंस के खोझ ॥१८३॥

अर्थ :—किसी जीव को छेदना—हस्तपाद कानादि का अंग करना, ताड़न—लकड़ी, कोड़ा आदि से मारना, वँधन—रस्सी आदि से रोक रखना, अतिभारारोपण—शक्ति से ज्यादा बोझा लादना तथा अन्नपान निरोध—याने खाने पीने को न दे उन्हें भूखे प्यासे रखना देरी से देना ये अहिंसाव्रत के ५ अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत के ५ अतिचार

मिथ्योपदेश दानं रहसोभ्याख्यान कूटलेखकृती।
न्यासापहार वचनं साकार मंत्र भेदश्च ॥१८४॥

साकार मंत्र खोले, लेख असत उपदेश।
रहसोभ्याख्यान हु करें, न्यासहरण सत टेश ॥१८४॥

अर्थ :—झूँठा उपदेश देना, एकान्त की गुप्त बात—स्त्री पुरुषों के एकान्त में किये हुए कार्य प्रगट करना, झूठा लिखना, धरोहर के हरण करने के वचन कहना और काय की चेष्टाओं से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रगट कर देना ये ५ सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अचौर्यव्रत के ५ अतिचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणेच ॥१८५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नृप आज्ञा भंग करै, चोरी देय नियोग।
दरव्य चोखा जो सकल, ताहि मिलावै फोग ॥१८५॥ (अ)
वस्तुलेय, चोर लाया, कर चोरी का कार।
हीनाधिक मानहु धरै, अचौरि ये अतिचार ॥१८५॥ (व)
(युग्गम्)

अर्थ :—राजा के प्रचलित किये हुए नियमों का उल्लंघन करना, चोरी करने वाले को नियोग—सहायता देना, चोखी वस्तु में खोटी वस्तु मिला कर वेचना, चोरों के द्वारा हरण की हुई वस्तु का ग्रहण करना, नापने तौलने के गज, वार, पली, तराजू आदि के मान हीनाधिक करना ये पाँच अचौर्य व्रत के अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत के ५ अतिचार

स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनङ्गक्रीड़ान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥
व्याइ अव्याइ नारि गमन, अतिशय लालच काम।
पर विवाह का रोपना, क्रीड़ अनंग कुठाम ॥१८६॥

अर्थ :—व्याही—अन्य की ग्रहण की हुई, अन व्याही—वेश्या, दासी आदि व्यभचारिणी स्त्रियों का गमन, काम सेवन की अतिशय लालसा रखना, अन्य का विवाह करना, योग्य अंगों के अतिरिक्त अंगों से कामक्रीड़ा करना ये ब्रह्मचर्य व्रत के ५ अतिचार हैं।

अपरिग्रह व्रत के ५ अतिचार

वास्तु क्षेचाष्टापद हिरण्य धन धान्य दास दासीनाम्।
कुपस्थ भेदयोरपि परिमाणाति क्रियाः पञ्च ॥१८७॥
दासी दास, धनधान्य, घर भू चांदी सोन।
कपड़े रेशम पाट के, संख्य उलंघन दोन ॥१८७॥

अर्थ :—दासी दास, धन धान्य, घर भूमि, चांदी सोना, रेशम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व पाट के कपड़े के उक्त दो-दो भेद कर एक-एक से पांचों के परिमाण का उलङ्घन करना ये अपरिग्रहव्रत के पांच अतिचार हैं।

दिग्व्रत के ५ अतिचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्य्यक्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथम शीलस्य ॥१८८॥

ऊँच नीचि सम भूमि का, देय तोड़ परमाण।
स्मृत्यन्तर क्षेत वृधि, दोष दिगवरत जान ॥१८८॥

अर्थ :—ऊपर—पर्वतादिकों पर चढ़ना, नीचे—कूपादिकों में नीचे उतरना, समान—विल तेहखाने गुफादिकों में प्रवेश करने, भूमि के किये हुए प्रमाण का व्यतिक्रम करना याने जितना प्रमाण लिया हो उससे बाहर चले जाना, परिमाण किये हुए क्षेत्र की लोभादि के वश वृद्धि करना और स्मृति के अतिरिक्त क्षेत्र की मर्यादा का धारण करना याने याद न रखना इस प्रकार पांच अतिचार दिग्व्रत के कहे गये हैं।

देशव्रत के ५ अतिचार

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीय शीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

बाहिर सीमा भेजना, शब्द रूप विनिपात।
पुद्गल क्षेपन आनयन, देश वरत दोषात ॥१८९॥

अर्थ :—प्रमाण किये हुए क्षेत्र के बाहिर अन्य पुरुष को भेजना वहां से किसी वस्तु का मंगाना, शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारे करना और पुद्गल—कंकड़ पत्थर आदि का फेंकना भी, इस प्रकार पांच अतिचार देशव्रत के कहे गये हैं।

अनर्थदंड व्रत के ५ अतिचार

कन्दर्प्यः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतियशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंदर्प मौखर कौत्कुच, पुनि आनर्थक भोग।
विना विचारे काज करें, अनर्थदण्ड के रोग ॥१९०॥

अर्थ :—कंदर्प—हास्य मिश्रित काम के वचन कहना, मौखर्य्य—वाचालता, कौत्कुच्य—भंडयुक्त अयुक्त कामचेष्टा और विना विचारे कार्य का करना, भोगोपभोग के पदार्थ वस्तुतः मोल देकर लेना, इस प्रकार तीसरे शील—अनर्थदण्डव्रत के भी पांच अतिचार हैं।

सामायिक व्रत के ५ अतिचार

वचनमनः कायानां दुःप्राणिधानम् (नान्य) नादरश्चैव।
स्मृत्यनुप स्थान युताः पञ्चेति चतुर्थ शीलस्य ॥१६१॥

मन, वच तन का डोलना, ससंशय स्मृति शोप।
और अनादर पांचवां, ये सामायिक दोष ॥१९१॥

अर्थ :—वचन, मन और काय की दुष्प्रवृति, अनादर तथा स्मृत्यनुपस्थान सहित—यह पाठ मैंने पढ़ा कि नहीं ऐसी संशय रूप विस्मृति इस प्रकार ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

उपवास के ५ अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्ज्जित मादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानंमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१६२॥

विन शोध लेय बिछावै, मल मूत्र का त्याग।
उपास विधि का भूलना, करें अनादर लाग ॥१९२॥

अर्थ :—अनवेक्षित—विना शोधे, अप्रमार्जित—विना झाड़े वस्तु[1] का ग्रहण, संस्थर[2]—विना देखे शोधे बिछौना करना इसी तरह विना देखे, विना शोधी भूमि पर मल मूत्र का त्याग करना, प्रोषध विधि के विधान भूल जाना तथा उपवास में अनादर—उत्साह हीनता होना ये उपवास के पांच अतिचार हैं।

५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगोपभोग परिमाण व्रत के ५ अतिचार

आहारो हि सचित्तः सचित्त मिश्रस्सचित्तसम्बन्धः ।
दुष्पकोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठ शीलस्य ॥१९३॥

सचित वा मिश्र स्पर्शित, अभिषव काम उभार ।
दोष दुष्पक्क पांचवा, उपभोभोग मझार ॥१९३॥

अर्थ :—सचित्ताहार—चेतनायुक्त अहार, सचित्त मिश्राहार—सचित्त से मिले हुए अहार को जो पृथक न किया जा सके, सचित्त—सम्बन्धाहार—सचित्त से स्पर्श किये हुए अहार को, दुष्पकाहार अर्थात् कष्ट से पके-गरिष्ठ, अभिषवाहार—दुग्ध, घृतादिक रस मिश्रित कामोत्पादक अहार का करना ये भोगोपभोग परिमाणव्रत के ५ अतिचार हैं।

अतिथि संविभाग व्रत के ५ अतिचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

दे परदातव्यपदेश, समात्सर समय टार ।
सचित में धरयो ढक्यो, अतिथिदान अतिचार ॥१९४॥

अर्थ :—परदातृव्यपदेश—किसी कार्य के वश बहाना बना कर दूसरे से दान देने को कहना, समात्सर—दाताओं से ईर्षा करना या उनकी प्रशंसा न सह सकना, समय चुका कर दान देना, सचित्त वस्तु में रखा हुआ तथा सचित्त वस्तु से ढका हुआ अहार देना ये अतिथि संविभाग व्रत के ५ अतिचार हैं।

समाधिमरण के ५ अतिचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

चाह जीवन मरण विषै, सुखानुबन्ध निदान ।
सुहद अनुराग, दूषण, किया समाधि बखान ॥१९५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—जीवितशंसा—शरीर की स्थिति में आदरवान होकर जीने की चाह, मरणाशंसा—रोगादिक की पीड़ा के भय से मरने की इच्छा, सुहृदनुराग—पूर्व में मित्रों के साथ की हुई आनन्ददायिनी क्रीड़ा का स्मरण, सुखानुबन्ध—नाना प्रकार के भोगोपभोग स्त्री सुखादिकों के चिंतवन, निदान—भविष्यकाल के भोगों के वांछारूप चिंतवन ये समाधिमरण के समय के पांच अतिचार हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रत शीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात ॥१९६॥

यों उपासक विवेकमय, तजैं दोष अतिचार।
निज अर्थ फुट सिद्ध करें, समकित शीलाधार ॥१९६॥

अर्थ :—इस प्रकार गृहस्थ इन पूर्व में कहे हुए अतिचारों को और दूसरों को—अन्य दूषणों के लगाने वाले अतिक्रम व्यतिक्रमादिकों को भी विचार करके, छोड़ करके, निर्म्मल सम्यक्त्व व्रत और शीलों द्वारा थोड़े ही समय में पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता है।

इति देश चरित्र कथनम्

———-

अथ सकल चारित्र व्याख्यान मोह

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्ग मागमे गदितं।
अनिगूहितानिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

तप, मोक्ष अंग, आगम; चारित्र ही को रूप।
अछिपाय आप वल चतुर, गहो तप थिर अनूप ॥१९७॥

अर्थ :—आगम में—जैन सिद्धान्त में, चारित्र के अन्तर्वर्ती होने से तप भी मोक्ष का अङ्ग कहा गया है अतएव अपने पराक्रम को नहीं छिपाने वाले तथा सावधान चित्त वाले पुरुषों को वह तप भी सेवन करने योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य तप के ६ भेद

अनशनमवमोदर्य्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमितितपो बाह्यम् ॥१९८॥

करें अनसन काय क्लेश, अर विविध शय्यासन ।
ऊनोदर व्रत संख्या, सुतप बाह्य रस तजन ॥१९८॥

अर्थ :—तप बाह्य तथा अन्तरङ्ग दो भेदरूप हैं जिसमें प्रत्येक के छह छह अन्तर भेद हैं जिसमें प्रथम बाह्य तप के भेदों में अनशन याने खाद्य, स्वाद्य, लेय, पेय रूप चार प्रकार के अहार का त्याग, कायक्लेश—शरीर को परीषह उत्पन्न करके पीड़ा को जीतना, विविक्त शय्यासन—विषयी जीवों के सञ्चार रहित स्थान में सोने, बैठने का नाम, ऊनोदर—भूख से थोड़ा अहार करना, वृत्तिपरि-संख्या—अमुक प्रकार से अमुक अहार मिलेगा, तो भोजन करूँगा अन्यथा नहीं इस प्रकार प्रवृत्ति की मर्यादा करना और छठा भेद रस-परित्यागः—दुग्ध, दही, घृत, तेल मिष्टान्न, लवण इन छह रसों का त्याग रूप होता है इसमें अनशन तप से रागादिक जीते जाते हैं पाप कर्मों का क्षय होता है ध्यानादिक की प्राप्ति होती है, ऊनोदर से निद्रा नहीं आती दोष घटते हैं सन्तोष स्वाध्याय की प्राप्ति होती है और विविक्त शय्यासन तप से किसी प्रकार की बाधायें उपस्थित नहीं होतीं, ब्रह्मचर्य का पालन होता है ध्यानाध्ययन की सिद्धि होती है, रस परित्याग से इन्द्रियों का दमन होता है, निद्रा आलस्य का शमन होता है स्वाध्याय सुख की सिद्धि होती है, पांचवें कायक्लेश तप से संसारिक सुख की अभिलाषा कृश होती है, राग का अभाव होता है, कष्ट जीतने का अभ्यास होता है प्रभावना की वृद्धि होती है और वृत्तिपरसंख्या से आशा, तृष्णा का विनाश होता है ।

अन्तरंग तप के ६ भेद

विनयो वैय्यावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥१९९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनय वैयावृत धरै, स्वाध्याय अरु ध्यान।
प्रायश्चित उत्सर्ग है, अन्तर सुतप महान ॥१९९॥

अर्थ :—विनय—आदर भाव इसके भी दो भेद (१) मुख्य विनय अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को पूज्य बुद्धि से आदर पूर्वक धारण करना दूसरा भेद उपचार विनय—रत्नत्रयादि गुणों के धारी आचार्यादिकों को आदर पूर्वक नमस्कारादि करना तथा परोक्षरूप में उनके तीर्थ क्षेत्रादिकों की वन्दना करना दूसरा तप वैय्यावृत्य—पूज्य पुरुषों की सेवा चाकरी करना, स्वाध्याय कहिये ज्ञान भावना के लिए आलस्य रहित होकर श्रद्धान पूर्वक जैन सिद्धान्तों का स्वतः पढ़ना, वारम्बार अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना और दूसरों से सुनना; ध्यान—समस्त संसारी चिन्ताओं का त्याग कर धर्म में तथा आत्म-चिन्तवन में एकाग्र होना ; प्रायश्चित नाम प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषों को प्रतिक्रमणादि पाठ अथवा तपव्रतादि अङ्गीकार करके दूर करना ; तथा उत्सर्ग नाम वाह्य तथा अन्तरङ्ग परिग्रहों में अहङ्कार ममकार रूप बुद्धि को त्यागना ये छह भेद हैं, इसमें विनयं तप से मान कषाय का विनाश होकर ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है और वैय्यावृत्त से गुणानुराग प्रकट होकर मान का अभाव होता है, प्रायश्चित तप से व्रतादिकों की शुद्धता होकर परिणाम निःशल्य हो जाते हैं तथा मानादिक कषाय कृश होते है ; उत्सर्ग तप से निष्परिग्रहत्व निर्भयत्व प्रगट होकर मोह क्षीण होता है; स्वाध्याय से बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल रहते हैं संवेग होता है; धर्म की वृद्धि होती है और ध्यान से मन वशीभूत होकर अनाकुलता की प्राप्ति से परम आनन्द में मग्न हो जाता है।

जिनपुङ्गव प्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

जिन प्रवचनहि जो कहा, मुनिन हेतु आचार।
जथाविधि श्रावककहु धरें, पद सकति निज विचार ॥२००॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—जिनेश्वर के सिद्धान्त में मुनीश्वरों को जो आचरण कहा है, वह इन गृहस्थों को भी अपनी पदवी और शक्ति को भले प्रकार विचार करके सेवन करने योग्य कहा है।

षट आवश्यक निर्देश

इदमावश्यकषटकं समतास्तव वन्दना प्रतिक्रमणम्
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम ॥ २०१ ॥

करै स्तव प्रतिक्रमण, समता प्रत्याखान।
काय उत्सर्ग वन्दना, आवशक षट पिछान ॥ २०१ ॥

अर्थ :—स्तव—तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन, प्रतिक्रमण—प्रमाद-कृत पूर्व दोषों को दूर करना, समता-सम्यक भाव, प्रत्याख्यान नाम त्याग भावों से आगामीकाल सम्बन्धी पाप आश्रव को रोकना कायोत्सर्ग :—पाप कार्य से हटकर शरीर तथा उपयोग को सामायिक में स्थित होना; वंदना :—तीर्थंकरादिकों के सम्मुख शिरादि अंगों को नम्रीभूत करना ये छहक्रियायें श्रावक को अत्यन्त आवश्यक है, इसी से इनका नाम षट् आवश्यक क्रिया है।

त्रगुप्ति वर्णन

सम्यग्दण्ड़ो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमत्र गम्यम् ॥ २०२ ॥

भली विधि काय वश करें, करें मन का निरोध।
वचनहु अवरोधे सदा, ये तिगुपति जिय सोध ॥ २०२ ॥

अर्थ :—शरीर का भले प्रकार—पाप कार्यों से वश करना तथा वचन का भले प्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यकतया निरोधन करना इन तीनों गुप्तियों को जानना चाहिये, याने ख्याति लाभ पूजादि की वांछा बिना मन वचन काय की स्वेच्छाओं को निरोध करना ही व्यवहार गुप्ति कहलाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंच समितियां

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥ २०३ ॥

सम्यगगमनागमन पुनि, समिति ऐषणा धार।
आदान निक्षेपहु धरै, भाषा सहित निहार ॥ २०३ ॥

अर्थ :—सावधान होकर भले प्रकार गमन और आगमन अर्थात् ईर्या समिति, उत्तम हितमित रूप वचन कहिये भाषा समिति योग्य आहार का ग्रहण नाम एषण समिति, पदार्थों का यत्न पूर्वक ग्रहण और यत्न पूर्वक क्षेपण-धरना ही आदान निक्षेप समिति, प्रासुक भूमि देखकर मल मूत्रादिक मोचन का नाम सम्यक व्युत्सर्ग-निहार समिति है इनकी पालना यथोचित मुनि एवं श्रावक दोनों को करना योग्य है।

दश प्रकार धर्म

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्व मृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥ २०४ ॥

क्षमा मृदुता आर्जव, सत्य सौच शिवकार।
संयम तप त्याग अकिंच, ब्रह्म धरम दशधार ॥ २०४ ॥

अर्थ :—क्षमा[१]-क्रोध कषाय के कारण परिणामों को कलुषित नहीं होने देना; मृदुता[२]-मार्दव अर्थात् जात्यादि अष्ट मदों का न करना; आर्जव[३]-मन, वचन काय की क्रियाओं के वक्र न रखना तथा कपट का त्याग; सत्य[४]-यथार्थ वचन कहना; शौच[५]-अन्तः करण में लोभ गृद्धिता को न्यून करना; संयम[६]-इंद्रिय निरोधन तथा त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना; तप[७]-कर्म क्षय करने के लिये अनशनादि करना तथा इच्छा का निरोधन करना; त्याग[८]-दूसरे जीवों को दया भाव करके ज्ञानादिक दान देना; आकिंचन[९]-परिग्रह के अभाव तथा शरीरादिक में ममत्व न रखना; ब्रह्मचर्य[१०]-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परब्रह्म आत्मा में तल्लीन रहना तथा स्त्री का विकार भाव से चिन्त-वन का त्याग इस प्रकार ये दश धर्म मुनि महाराजों को धारण करना चाहिये ।

द्वादशानुप्रेक्षा

अध्रु व मशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्यवो जन्म ।
लोकवृषबोधिसंवर निर्ज्जरा: सततमनुप्रेक्ष्या ॥ २०५ ॥

अध्रु व अशरण संसार, एकत्व अन्यत्व जान ।
अशुचित्व आश्रव कही, संवर निरजर मान ॥२०५॥ (अ)
लोकानुप्रेक्षाहु मीत, बोधि दुरलभ अपार ।
धरम भावना वारमी, अनुप्रेक्षो वहु वार ॥२०५॥ (ब)

अर्थ :—अध्रु व[1] अनुप्रेक्षा—संसार में शरीर सम्पदादिक याव-न्मात्र पदार्थ उत्पन्न हुए हैं वे सब स्थायी नहीं । अशरणा[2]नुप्रेक्षा-संसार में मृत्यु से पकड़े हुए जीव को कोई रक्षक नहीं है । संसारा-नुप्रेक्षा[3]—यह जीव पंच परावर्तन रूप संसार में नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्म मरण करता हुआ कभी भी सुख को प्राप्त नहीं हुआ । एकत्वानुप्रेक्षा[4]—संसार में इस जीव का कोई साथी सगा नहीं है अकेला ही भ्रमण एवं सुख दुख फल को प्राप्त करता है । अन्यत्वानुप्रेक्षा[5] :—शरीर, घर से पति आदिक सब अनित्य और इस जीव से सर्वथा भिन्न है मैं अनादि अनन्त हूँ यह विचारना । अशुचित्व[6]—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र एवं रोगादिक की खान है इसकी अशुचित्व विचार रागघटाना । आश्रवानुप्रेक्षा[7] :—विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान ये पंच मित्थात्व तथा बारह अव्रत अर्थात् पंचेद्रिय तथा मनोजन्य असंयम और छह काय के जीवों की ऊदया पच्चीस कषाय अर्थात् अनन्तानुवंधी आदिक के सहित क्रोधादिक १६ कषाय, ६ हाष्यादिक नो कपाय ; और १५ योग—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग, सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, मिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियकमिश्र काययोग, अहारक काययोग, अहारकमिश्र काययोग, कार्मांण काययोग, ये ५७ आश्रव के हेतु हैं। इस प्रकार चिन्तवन करना आश्रवानुप्रेक्षा है। संवरानुप्रेक्षा[८]—कर्मों के आश्रव के रोकने को संवर कहते हैं इसके कारण भूत पंच महाव्रत, पंच समिति तीन गुप्ति, दश लक्षण धर्म द्वादशानुप्रेक्षा, २२ परिषहों का चिन्तवन करना है व्यवहार संवरानुप्रेक्षा है। मिथ्यात्व कषाय और लेश्या का अभाव निश्चय संवरानुप्रेक्षा है। निर्जरानुप्रेक्षा[९]—ये दो भेद रूप है प्रथम संविपाक नाम पूर्व संचित कर्मों की स्थिति पूर्ण होकर उनका फल देकर स्वयं झड़ना दूसरा भेद अविपाक - तपश्चरणादिक द्वारा कर्मों का स्थिति पूरी किये विना ही झड़ना व्यवहार निर्जरा स्वरूप का चिंतवन करना, निश्चयम अंश २ में राग का नाश करना निश्चय निर्जरा है। लोकानुप्रेक्षा—यह लोक अनादि निधन स्वयं सिद्ध रचना के द्वारा स्थित हैं न कोई कर्ता न कोई हर्ता है इसकी आकृति पुरुषाकार है व कहां २ क्या व कैसो २ स्थिति व रचना है विचार करना, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा[११]--संसार में निगोद से निकल कर स्थावर त्रस सेनी असेनी इंन्द्रिय पूर्णता, ज्ञान सुभूमि, पूर्ण आयु आदि २ उत्तरोत्तर दुर्लभ है उसमें भी जिन धर्म की शरण रत्नत्रय धर्म महान दुर्लभ है इनका विचार करना धर्मानुप्रेक्षा[१२]—धर्म के फल मुक्ति स्वर्गादिक वैभव है इसके अभाव में दुःख प्राप्त होते हैं इस प्रकार धर्म की महिमा वार २ विचार करना योग्य है ये बारह भावना बारंबार चिन्तवन तथा मनन करना चाहिये।

बाइस परिषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचना रतिरलाभः
दंशो मसकादीनामाक्रोशो व्याधि दुःख मङ्गमलम् ॥२०६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा
सत्कार पुरस्कारः शय्या चर्य्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढ्व्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्त भीतेन ॥२०८॥

क्षुधा[१] तृषा[२] शीत[३] उष्ण[४], याचन[५] अरति[६] अलाभ[७] ।
मशकादि दंश[८] आक्रोश[९], नग्न[१०] मल[११] रोगधाम[१२] ॥२०६॥
तृण स्पर्श[१३] अज्ञान[१४] वध[१५], स्त्री[१६] अदरश[१७] बुधसार[१८] ।
शय्या[१९] चर्य्या[२०] निषधा[२१], आदरित[२२] पुरस्कार ॥२०७॥
परिषह ये बाइस कहे, जीत सदा सुखकार ।
संसार भीति मुनि सहो, मन संक्लेश निवार ॥२०८॥

अर्थ—क्षुधा परीषह जप—भूख की वेदना होने पर उसके वशवर्ती न होकर स्वभाव पर लक्ष रखना तृषा परीषह जप :— प्यास की असत्य वेदना होने पर उसके वशीभूत होकर जलपानादिक न करके समभाव पूर्वक कर्म ऐवं वस्तु स्वरूप चिन्तवन करते उसके दुःख को अधीर न होते स्वस्वरूप पर लक्ष रखना इसी प्रकार शीत उष्ण, नग्न :— किसी प्रकार के वस्त्र न रख काय सम्बन्धी किसी प्रकार विकार न होने देना, याचना :— किसी से भी किसी प्रकार की याचना न करना अरतिपरीषहजपः— संसार के समस्त पदार्थों में समता भाव रखना रति अरति— रागद्वेष रूप परिणाम न करना, अलाभ परीषहजप :— अनेक उपवासों के अनन्तर नगर में भोजनार्थ जाने पर निर्दोष आहारादि न मिलने से खेदित न होना दंशमसकादि परीषह जप याने नाना ऋतु के नाना प्रकार के डांस, मच्छर चीटी मक्खी सर्पादिक के लिपट जाने काटने पर भी खेदित न हो ध्यानावस्थित रहना; आक्रोश परिषह जप :— दुष्ट चोर ठगादिकों द्वारा नाना कुवचनादिक कहे जाने पर महा क्षमा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारण करना, रोग परीषह जय, मल परीषह जय, तृणस्पर्श परीषह जय; अज्ञान परीषह जय अर्थात् ज्ञानावरणी कर्म के उदय से तपश्चर्या करने पर भी श्रुतज्ञान पूर्ण न होने पर स्वतः खेद न करना और ऐसी दशा में अन्य जनों से अज्ञानी आदि मर्म भेदी वचन सुनकर दुखित न होना, अदर्शन परीषह जय :— बहुत काल पर्यन्त उग्र तप करने पर किसी प्रकार की ऋद्धि, सिद्धि, आदि अतिशय प्रगट न होने पर भी संयम के फल में रंचमात्र भी शंका न कर खेद खिन्न न होते मार्ग में स्थित रहते हुए सम्यकदर्शन को दूषित न करना। बुध नाम प्रज्ञा परीषह जयः— बुद्धि का विकाश होने पर भी किसी प्रकार का मान न करना, सत्कार पुरस्कार परीषह जय कोई उनका सत्कार करे या अविवेकी क्षुद्र तिरस्कार करें तो भी हर्ष विषाद भाव न रख समान भाव धारण करना। शय्या परीषह जय :— खुरदरी, कंकरीली, कंटकादिक से सहित भूमि में शयन करके दुखी न होना, चर्य्या परीषह जय—किसी प्रकार की सवारी की इच्छा न करते हुये मार्ग के कष्ट को न गिनकर भूमि शोधन करते हुए गमन करना। वध बंधन परीषह जय - दुष्ट पुरुषों द्वारा वध बंधनादि दुःख उपस्थिति होने पर उन्हें समता पूर्वक ज्ञाता दृष्टा रहना। निषधा परीषह जय—निर्जन वनों में, हिंसक जीवों के निवास स्थानों में, व्यन्तरादि देवों के निवास स्थानों में, अन्धकार युक्त गुफाओं में और स्मशान भूमियों में रहकर भी दुःख न मानना, स्त्री परीषहजय :—महा सुन्दर स्त्रीयों के हाव भाव भ्रूकटाक्षादि चेष्टाओं से पीड़ित न होना इस प्रकार ये बाइस भेद रूप परीषहों को संक्लेश रहित चित्त वाले यानें जिसके चित्त में क्लेश नहीं है और संक्लेश निमित्त कहिये संसार से भयभीत हुआ हो ऐसे साधु को निरन्तर ही स्वरूप की ओर दृष्टी करना योग्य है इससे आत्मा के गुणों का विकाश होता है मार्ग में निश्चल रहकर ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान अवस्थित होने से कर्मों का दग्ध होता है और मोक्ष प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति रत्नत्रयमेतत्प्रति समयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥ २०६ ॥

मोक्ष अविनासी हेत, सुबुध उपासक वाल ।
विकलहु त्रिरतन पुनीत, सतत सदा परिपाल ॥ २०९ ॥

अर्थ :—इस प्रकार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय विकल कहिये एकदेश रूप में मुक्ति की इच्छा करने वाले गृहस्थ करके भी निरन्तर समय समय पर परिपालन करना योग्य है। अर्थात् मोक्षार्थियों के हेतु अभी तक इस ग्रन्थ में सकल और विकल रूप दो प्रकार के रत्नत्रय का स्वरूप वर्णन किया गया है यदि गृहस्थ करके सकल न सध सकें, तो कम से कम अपनी शक्ति और समय का बल विचार करके विकल रत्नत्रय तो अवश्य ही सेवन करना योग्य है।

बद्धोद्यमेन नित्यंलब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥ २१० ॥

विकलहु अवसर कर सकल, श्रावक उद्यमवान ।
मुनिवर पद अवलंब फुर, पूरो सकल सुजान ॥ २१० ॥

अर्थ :—और यह विकल रत्नत्रय निरन्तर उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थ द्वारा रत्नत्रय के लाभ के समय को प्राप्त करके तथा मुनियों के चरण अवलंबन करके शीघ्र ही परिपूर्ण करने योग्य है अर्थात् विवेकी जीव गृहस्थाचार में भी रहता हुआ सांसारिक भोगविलासों से विरक्त तथा मोक्ष मार्ग में गमन करने में उद्यमवंत रहते हैं; उन्हें चाहिये, कि वैराग्य प्राप्ति का अवसर पाकर मुनिपद धारण कर लेवें, और पूर्वसाधित रत्नत्रय को पूर्ण कर लेवें।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपूर तिरतन भावते, जो होता शुभ बन्ध।
सो रागकृत होनते, रतन मुकत निरबन्ध ॥ २११ ॥

अर्थ :—अपूर-विकल रत्नत्रय को भावन-सेवन करने वाले पुरुष के जो शुभ कर्म बन्ध है, सो बन्धरागकृत होने पर भी श्रद्धा में राग उपादेय नहीं होने के कारण से अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है। अर्थात् विकल रत्नत्रय में शुभ भाव के प्रादुर्भाव से जो पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है वह मिथ्या दृष्टि की तरह संसार का कारण नहीं है किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण है क्योंकि उनको श्रद्धा में हुये समझता है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य, बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४ ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

उतना जित अंश सुदृष्टि, बंध न आतम मान।
जित अंश राग उत अंश, अप्पा बंध पिछान ॥ २१२ ॥
उतना जित अंश सुज्ञान, बंध न आतम मान।
जित अंश राग उत अंश, अप्पा बंध पिछान ॥ २१३ ॥
उतना जित अंश चारित, बंध न आतम मान।
जित अंश राग उत अंश, अप्पा बंध पिछान ॥ २१४ ॥

अर्थ :—इस आत्मा के जिस अंश से सम्यग्दर्शन है उस अंश से बंध नहीं है, तथा जिस अंश से इसके राग है उस अंश से बंध होता है। जिस अंश से इसके ज्ञान है उस अंश से इसके बंध नहीं है और जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बंध होता है। जिस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंश से इसके चारित्र है उस अंश से बंध नहीं है, तथा जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बंध होता है यहां पर आचार्य प्रभु ने बताया है कि आत्मविनिश्चय प्रकाशक आत्मपरिज्ञान से आपके द्वारा आपमें ही स्थिर होना इसी का नाम सकल-अभेद रत्नत्रय है, फिर इस प्रकार की बुद्धि परिणति में बंध का अवकाश कहां ? बंध तो तब होता है जब इस परिणति से विपरीत होकर परिणमन करता है, अतएव यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ, कि जिन अंशों से यह आत्मा अपने स्वभाव रूप परिणमता है, वे अंश सर्वथा बंध के हेतु नही है, किन्तु जिन अंशों से यह रागादिक विभाव रूप परिणमन करता है, वे ही अंश बंध के हेतु हैं।

योगा त्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोध चरित्रं न योग रूपं कषाय रूपं च ॥ २१५ ॥

प्रदेश बंध योग ते, थिति कषाय प्रमान।
दरशन बोध चारित में, अभाव दोऊ जान ॥ २१५ ॥

अर्थ :—प्रदेश बंध (एवं प्रकृतिबंध) मन, वचन, काय के व्यापार योग से तथा स्थितिबंध (एवं अनुभागबंध) क्रोधादिक कषायों से होता है, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र रूप रत्नत्रय न तो योग रूप है और न कषाय रूप ही है, अर्थात् संसारी आत्मा की मन, वचन काय की हलन-चलन रूप क्रिया को योग कहते हैं इस योग की क्रिया से आश्रवपूर्वक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। और राग द्वेष भावों की परिणति को कषाय कहते हैं, इसके अनुसार स्थितिबंध तथा अनुभागबंध होता है, यथा :—सयोग केवली के योग क्रिया से सातावेदनी का समयस्थायी बंध है, स्थिति बंध नहीं है क्योंकि उनके कषाय का सद्भाव नहीं है अतएव सिद्ध हुआ कि, योग कषाय ही बंध के कारण हैं, सो रत्नत्रय न तो योग रूप ही है और न कषाय रूप ही है इसलिये बंध का कारण कैसे हो सकता है। वे कर्म पुद्गल जिनसे कि बंध होता है आठ प्रकार के होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) ज्ञानावरणी—जो आत्मा के प्रदेशों से सम्बन्ध करके ज्ञान नहीं होने देता जैसे परदा पड़ जाने से पदार्थ को यथार्थ नहीं देखने देता। (२) दर्शनावरणी :—द्वारपाल पर का दर्शन नहीं होने देता त्योंही आत्मा का दर्शन नहीं होने देता। (३) मोहनी कर्म—मदिरा वत आत्मा को संसार में पागलसा बना देता है। (४) वेदनी कर्म :—शहद लपेटी तीक्ष्ण असिधार के समान थोड़े समय के लिये साता दिखाकर असाता से पीड़ित रखता है, अर्थात् परपदार्थ का संयोग वियोग कराता है। (५) आयुकर्म :—काठ में चोर का पांव जिस प्रकार अटका देते हैं फिर वह नहीं निकल सकता है त्योंही आयुकर्म अपनी स्थिति तक नरकादिक में रोक रखता है। (६) नाम कर्म—चितेरे के समान आत्मा से सम्बन्ध करके मनुष्य तिर्यन्चादिक के आकार बनाता है। (७) गोत्र कर्म—कुंभकार छोटे बड़े अनेक प्रकार के वर्तन बनाता है त्यों यह ऊंच नीच गोत्रों में उत्पन्न करता है। (८) अन्तराय कर्म भंडारी राजा के आदेश पर भी भिक्षुकों को लाभ नहीं होने देता। त्यों यह दान भोग उपभोग आदि की वीर्य शक्ति उत्पन्न होने में अंतराय डालता है। इस प्रकार इन अष्ट भेद रूप कर्मों को समझकर स्वरूप को जानना चाहिए कि इन्हीं कर्मों का उपयुक्त स्वभाव के सहित जीव से सम्बन्ध होने का नाम ही प्रकृति वंध है और पृथक २ कर्मों के परमाणुओं का पृथक २ मर्यादा को लिये स्थिति होने को स्थिति वंध कहते हैं और इन कर्मों के विपाक होने को अर्थात् उदय में आकर रस देने को अनुभाग वंध कहते हैं तथा आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, इन असंख्य प्रदेशों में से एक एक प्रदेश पर अनन्तानंत कर्म वर्गणाओं, बंधजीव के प्रदेशों, और पुद्गल के प्रदेशों के एक क्षेत्र अवगाही होकर स्थित होने को प्रदेश वंध कहते हैं। इनमें प्रकृति वंध तथा प्रदेश वंध तो योगों से और स्थिति वंध अनुभाग वंध कषायों से होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्म परिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥
आत्म विनिचय ही दर्शण, परिज्ञान ही सुज्ञान।
थिरवास ही चारित है, किम बंध तीन मान ॥२१६॥

अर्थ :—स्वकीय आत्मा का विनिश्चय सम्यग्दर्शन, आत्माका विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिरता सम्यक् चारित्र कहा गया है इन तीनों से कैसे बंध होता है ? अर्थात् नहीं होता क्योंकि विकार से बंध होता है स्वभाव से नहीं होता।

सम्यक्त्व चारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नय विदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥
समकित चारित ही हेतु, बंध तीर्थ अहार।
जो कथन आगमहि किया, न नयविद दोषकार ॥२१७॥

अर्थ :—और तीर्थंकर प्रकृति और अहार प्रकृति का जो बंध सम्यक्त्व और चारित्र से आगम में कहा है वह भी नयवेत्ताओं के दोष के लिये नहीं है क्योंकि अभूतार्थ नय की अपेक्षा से सम्यक्त्व और चारित्र बंधके करने वाले होते हैं परन्तु भूतार्थ नयकी अपेक्षा सम्यक्त्व चारित्र बंध के कर्ता नहीं होते, बन्ध के कर्त्ता पूर्वोक्त योग कषाय ही हैं आगम में चारित्र दो भेद रूप सराग व वीतराग रूप कहा है सराग किंचित रागभाव से मुक्त और वीतराग रागभाव से विमुक्त है और तीर्थंकर व अहार प्रकृतियों का बंध सराग चारित्र से ही होता है वीतराग भाव में नहीं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥
समकित चरित ही सों है, तीर्थ अहार योग।
उदय कषाय योगहि का, न तो, गुण सोन भोग ॥ २१८ ॥

अर्थ :—जिसमें सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुये तीर्थंकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और आहार प्रकृति के बंध करने वाले योग और कषाय होते हैं और नहीं होते हुये नहीं होते हैं, अर्थात् सम्यक्त्व चारित्र के विना उक्त दोनों (तीर्थंकर तथा आहार) प्रकृतियों के बंध के कर्त्ता योग कषाय नहीं होते, वह सम्यक्त्व और चारित्र इस बंध में उदासीन हैं याने उक्त बंध में सम्यक्त्व और चारित्र न तो कर्त्ता ही है और न अकर्त्ता ही है परन्तु जितने अंश में राग हैं वही बंध करता है।

ननुकथमेवं सिद्धयति देवायुः प्रभृति सत्प्रकृतिबंधः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९ ॥

पै गुण मौन, तो क्योंकर, लह साधु रतनवान।
जग श्रुतवर करम बंध, अर देवादिक थान ॥ २१९ ॥

अर्थ :—(इस श्लोक द्वारा कोई शंका करता है) कि रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ मुनियों के समस्त जनसमूह में भली भांति प्रसिद्ध देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियों का बंध पूर्वोक्त प्रकार से कैसे सिद्ध होगा? याने रत्नत्रय को निर्बन्ध सिद्ध कर देने से यह बताइये कि उक्त पुण्य प्रकृतियों के बंध का हेतु क्या कोई और है, या यही रत्नत्रय है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आश्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

रतनत्रय तो मुकत दे, और न कछु मतिमान।
शुभोपयोगहि अपराध, पुण्याश्रव पिछान ॥ २२० ॥

अर्थ :—इस लोक में रत्नत्रय रूप धर्म निर्वाण का ही हेतु होता है, अन्य गति का नहीं, और जो रत्नत्रय में पुण्य का आश्रव होता है, सो यह अपराध शुभोपयोग का है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्त विरुद्ध कार्य्य योरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहार स्तादृशोऽपिरूढ़िमितः ॥२२१॥

रूढ़िगत यह बात है, इक में भिन दो काज।
घीव जलायो कहावत, है श्रुत सब समाज ॥२२१॥

५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—निश्चयकर एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी मेल से वैसा ही विरुद्ध व्यवहार रूढ़ी को प्राप्त है जैसे इस लोक में "घी जलाता है" इस प्रकार कहावत है। अर्थात् अग्नि दाह रूप कार्य में कारण है और घृत अदाह रूप कार्य में कारण है परन्तु जब दोनों अत्यन्त विरोधी कार्यों का समवाय सम्बन्ध होता है (घी गरम करे हुये से जलने पर) तब कहा जाता है इस पुरुष को घी ने जला दिया इसी प्रकार शुभोपयोग पुण्यबंध रूप कार्य में कारण है और रत्नत्रय मोक्ष रूप कार्य में कारण है परन्तु जब गुणस्थान की चढ़न परिपाटी में दोनों एकत्र होते हैं तब व्यवहारसे संसार में कहा जाता है कि रत्नत्रय से बंध हुआ यदि यथार्थ में रत्नत्रय बंध का कारण मान लिया जावेगा तो मोक्ष का सर्वथा अभाव ही हो जावेगा। अर्थात् सराग रत्नत्रय बंध का कारण है।

सम्यक्त्वचरित्रवोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

यों निश्चय व्योहारमय, मग तिरतन चिनरूप।
थान परम प्रगटावैं, अविचल अनत अनूप ॥२२२॥

अर्थ :—इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण युक्त मोक्षका मार्ग आत्मा को परमात्म पद प्राप्त कराता है। अर्थात् निश्चय रत्नत्रय का समुदाय साक्षात् मोक्ष मार्ग है और व्यवहार रत्नत्रय बंध का मार्ग है।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूप समवास्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशादतमः ॥२२३॥

नित करम रज रहित विमल, निजरत सुविधि अनूप।
अघात गगनवत स्फुरे, परमातम चिद रूप ॥२२३॥

अर्थ :—सदा ही कर्म रूपी रज के लेप से रहित अपने अनन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन ज्ञान स्वरूप में भले प्रकार अवस्थित उपघात रहित—जो स्वभाव से किसी के द्वारा घाता नहीं जाता और अत्यन्त निर्म्मल परमात्मा आकाश की तरह—जिस प्रकार आकाश रज युक्त नहीं होता सदा अपने स्वभाव में स्थित रहता है किसी के द्वारा घाता नहीं जाता अत्यन्त निर्म्मल होता है उसी प्रकार लोकशिखर स्थित मोक्ष स्थान में प्रकाशमान—निरावरण निरवसान शक्ति से विराजमान स्वभाव प्राप्त होकर अन्तकाल तक रहते हैं।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

कृत्कृत्य नित परमपद, सरवज्ञ सुसुख रूप।
परमानन्द निमग्न हैं, ज्ञान पुंज शिव भूप ॥२२४॥

अर्थ :—कृत्कृत्य—जो कुछ करना था सो कर चुके, अब शेष कर्त्तव्य कुछ नहीं, समस्त पदार्थ हैं विषयभूत जिनके अर्थात् सर्वज्ञ सब पदार्थों के ज्ञाता, विषयानन्द से रहित याने परमानन्दमय—अतिशय अतीन्द्रिय सुख में मग्न, ज्ञानज्योतिरूप मुक्तात्मा, परमपद—स्वस्वभाव में निरन्तर ही आनन्दरूप स्थित हैं।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिवगोपी ॥२२५॥

वस्तुरूपहि गोपीवत, मन्थक नेता जान।
खीचें इकतें ढील पुनि, जैन नीति जयवान ॥२२५॥

अर्थ :—मथानी के नेता ग्वालिनी के समान (जो एक हाथ से खींचती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनों की क्रिया से दही से मक्खन बनाने की सिद्धि करती है) वस्तु के स्वरूप को एक अन्त से—एक पक्ष याने छोर से, अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से आकर्षण करते है—खींचते हैं और फिर दूसरे पर्यायार्थिक नय से शिथिल करते हैं सो इस प्रकार वस्तु स्वरूप को पाते हैं सो जैनियों की न्याय पद्धति—स्याद्वाद नीति—निश्चय व्यवहार रूप नीति जयवती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिये दही में मथानी चलाती है और उसकी रस्सी को जिस समय एक हाथ से अपनी ओर खींचती है, उस समय दूसरे हाथ को शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरे से अपनी ओर खींचती है, तब पहिले को शिथिल कर देती है; एक के खींचने पर दूसरे को सर्वथा छोड़ नहीं देती, इसी प्रकार जैनी नीति जब द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का वर्णन करती है तब पर्य्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु में उदासीन भाव धारण करती है और जब पर्य्यायार्थिक नय से वर्णन करती है, तब द्रव्यार्थिक अपेक्षा उदासीनता धारण करती है, किसी को सर्वथा छोड़ नहीं देती और अन्त में (उन दोनों में न उलझते हुए) वस्तु के यथावत स्वरूप कार्य की सिद्धि करती है। जैनी जिस समय द्रव्यार्थिक को मुख्य मान के जीव का स्वरूप नित्य कहते हैं उस समय पर्याय की अपेक्षा उदासीन रूप से अनित्य भी कहते हैं, इसी से वास्तविकता को जान लेते हैं।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं पुनरस्माभिः ॥२२६॥

नाना वरणहि पद वनें, वाक्य सुपद समुदाय।
सुशास्त्र ताहि रचाया, हम क्या दिया बनाय ॥२२६॥

अर्थ :—नाना प्रकार के अक्षरों से किये हुए पद, पदों से बनाये गये वाक्य हैं और उन वाक्यों से पश्चात यह पवित्र पूज्य शास्त्र बनाया गया है, हमने कुछ भी नहीं किया अर्थात् ग्रन्थकर्ता श्रीमद अमृत चन्द्राचार्य अपनी लघुता प्रगट करने के लिये कहते हैं कि अकारादि सम्पूर्ण अक्षर पौद्गलिक हैं, अनादि निधन है इन्हीं का जब विभक्त्यन्त समुदाय होता है तब पद कहलाता है, तथा अर्थ के सम्बन्ध पर्यन्त क्रियापूर्ण पदों का समुदाय वाक्य कहलाता है, और उन्हीं वाक्यों का यह एक समुदाय रूप ग्रन्थ हो गया है, अतएव इसमें मेरी कृति कुछ भी नहीं है, सब स्वाभाविक रचना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति मूल ग्रन्थ, अथ कवि प्रशस्ति

पुर शेते इति पुरुष इम, पदसुविभक्ति गंभीर ।
पुर उत्तम चैतन्य गुण, शेते स्वामी वीर ॥२३५॥

अर्थ :—पुर—उत्तम चैतन्यगुण उनमें जो शेते स्वामी होकर प्रवृत्ति करै उसे पुरुष संज्ञा है अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं इस प्रकार पुरुष शब्द की विभक्ति से स्वाभाविक गुण का बोध होता है।

प्रवृति करै स्वामी वन, गुण चैतन्य मझार ।
सोही सच्चा पुरुष है, निज पर करै विचार ॥२३६॥

अर्थ :—इस प्रकार जो चैतन्य के गुणों को जानकर उनमें स्वामी वनकर प्रवेश करता है वही वास्तव में सच्चा—शुद्ध पुरुष=ज्ञानरूप चेतना का नाथ है और वही निज—अपना तथा पर नाम संसार में जितने भी ज्ञेय-पदार्थ हैं उनका विचार कहिये ज्ञाता याने सर्वज्ञ होता है।

ताही का वरनन यहां, किया श्री महाराज ।
ग्रन्थ घटहि ग्रंथि खोले, नमू पद ऋषिराज ॥२३७॥

अर्थ :–ताही नाम उसी ज्ञान रूप चेतना के नाथ-परमात्मा के स्वरूप प्राप्ति का उपाय यहां अर्थात् जिन प्रवचन रहस्य कोष कहिये पुरुषार्थसिद्धयोपाय ग्रन्थ में श्री गुरुदेव आचार्य महाराज अमृत चन्द्र जी सूरि ने वर्णन किया है यह ग्रन्थ घट नाम हृदय उसकी ग्रन्थि कहिये गांठों को खोलने में समर्थ है अथवा घटनाम आत्मा और ग्रन्थि नाम कर्म बन्धन अर्थात् जीव के साथ लगी हुई अनादि कर्म बन्धन स्वरूप गांठों को खोलने याने नष्ट करने में समर्थ है इस प्रकार के उत्तम ग्रन्थ को धारण करने से जो ऋषि हैं ऐसे श्री गुरुवर अमृत चन्द्राचार्य ऋषिश्वर को मैं (सागर चन्द) नमस्कार करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर में पदहि पलाय पुनि, परविरता परवीन ।
परम सुख सुपद प्रगटै, परम ज्ञान पद चीन ॥२३८॥

अर्थ :—इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का संक्षिप्त सार यही है कि चतुर पुरुष परविरता कहिये सकल पर पदार्थों से उदासीन होकर अपने स्वरूप को जो पर वस्तु कहिये पुद्गलादिक पदार्थों में मान रखा था उनसे यह मानता दूर करदे, इस प्रकार अपने परम कहिये निरकेवल शुद्ध केवल ज्ञान स्वरूप निज स्वरूप को जो जानकर रमण करता है उसको परम सुख—अक्षय अतीन्द्रिय सुख और सुपद नाम मोक्ष अवस्था प्रगट होती है।

अमृत ने अमृत दियो, अमृत वर निज रूप ।
'सागर' अमृत चाख के, अमृत हो शिवभूप ॥२३९॥

अर्थ :—श्री गुरुवर देव अमृत चन्द्राचार्य ने यह अमृत कहिये पुरुषार्थ सिद्धोपाय जो सदा काल से एक प्रकार का ही था, है, और रहेगा अर्थात् जीव सिद्धि कहिये मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है अथवा अमृत कहिये सर्वज्ञों द्वारा जिस प्रकार बताया गया है उसी प्रकार यहां हमको वताया है और उस आगम द्वारा यह ध्रुव-सत्य है कि अपना स्वरूप ही श्रेष्ठ अमृत है। इस प्रकार हे 'सागर' निज स्वरूप रूप अमृत चख कर—याने स्वरूप में रमण करके सासता शिव लोक का राजा क्यों नहीं होता है अथवा जिनवाणी रूप अथाह समुद्र में से निज स्वरूप रूप अमृत को चखकर हे शिवभूप कहिये सिद्धपुरी के नाथ अमृत कहिये जन्म मरण से रहित क्यों नहीं हो जाता है।

ग्रन्थ सुमहिमा को कहे, जिन वच का सब सार ।
बार बार मन मनन कर, हो 'सागर' भव पार ॥२४०॥

अर्थ :—इस पुरुषार्थ सिद्धोपाय ग्रंथ के गुणों को कथन करने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई नहीं, यह ग्रंथ सर्वज्ञ की वाणी का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक मात्र सार है, इस ग्रन्थ का अनेक वार मन लगाकर मनन कहिये चिन्तवन करने उसमें कहे रूप आचरण करने से हे 'सागर' जन्म मरण रूप संसार से पार हो सकता है।

मंगल मय मंगल ग्रन्थ, मंगल रात मझार।
मनसा मन की मिल गई, हुआ सफल अवतार ॥२४१॥
इक्क पाख पहिले बुध को, लिया जु काज पसार।
सो अब पूरण हो रहा, बुध चतु करो समार ॥२४२॥

अर्थ:—मंगल कहिये पाप को नष्ट करने वाला, पुण्य को लाने वाला यह मंगल मय ग्रन्थ मंगलवार की रात्रि के मझार कहिये मध्यान्ह—अर्द्ध रात्रि को मन की कामना को पूरा करने वाला हुआ और उस समय इसको पूरा करके अपना अवतार कहिये नर जन्म मुझ 'सागर' द्वारा सफल समझा गया, एक पाख कहिये, १५ दिवस के पूर्व बुद्धवार के दिन इसको कविता रूप करने का दृढ़ विचार हुआ सो आज यह कार्य पूरा हो रहा है अब इसमें जो कुछ बुद्धि के दोष से अपराध हुआ हो उसको चतुर एवं बुद्धिमान पुरुष सुधार कर लेवें।

संवस नो, सहस्त्र द्वय, सित आसोज मझार।
तिथि चौथ वर विक्रम में, 'सागर' पाया पार ॥२४३॥

अर्थ:—विक्रम नृप के प्रचलित २००९ सम्वत् में आसोज शुक्ला चतुर्थी को 'सागर' द्वारा यह कविता रूप ग्रन्थ पूरा हुआ।

आज मिती कार्तिक शुक्ल ८ को दिन के १२। बजे इस ग्रंथ की मूल श्लोकों सहित अर्थ रूप प्रति मल जी नाम टोडरमल जी तथा प्रेमी नाम नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा की हुई टीका के आधार पर लश्कर—गवालियर नगर में मध्य प्रान्त में भारत वर्ष के मध्य स्वयं सागर चन्द द्वारा लिखी गई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi